शैलीविज्ञान

डॉ. नगेन्द्र

शैलीविज्ञान

डॉ. नगेन्द्र

निवेदन

प्रस्तुत कृति के माध्यम से मैंने एक नये क्षेत्र में पदार्पण किया है। वैसे शैलीविज्ञान के काव्यशास्त्रीय पक्ष से मैं अपरिचित नहीं रहा, फिर भी भाषा-विज्ञान का क्षेत्र मेरे लिए नया ही है। यहाँ भी, मेरे दृष्टिकोण का सातत्य भंग नहीं हुआ, अर्थात् मैंने विवेकसम्मत नवीन उद्‌भावनाओं का स्वागत करते हुए, परम्परा—विशेषकर भारत की समृद्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा के संदर्भ में ही उनका आकलन किया है। ऐसा करने में दो लाभ होते हैं: एक तो यह कि परम्परा की सुदृढ़ भूमिका प्राप्त हो जाने पर नवीन प्रयोगों में स्थिरता आती है और, दूसरे, विचारक के मन में एक प्रकार के आत्मविश्वास की भावना जगती है, जिसके बिना न उचित परिप्रेक्ष्य संभव होता है और न सही मूल्यांकन।

इस प्रबन्ध के बहुलांश का वाचन मैं, फ़रवरी '७६ में, विश्वभारती—शांति-निकेतन के तत्त्वावधान में—'हलवासिया व्याख्यानमाला' के अंतर्गत कर चुका हूँ। इस प्रकार, इसका सम्बन्ध गुरुदेव की विश्वभारती के साथ अना-यास ही जुड़ गया है, और वहाँ के साहित्यिक बंधुओं तथा अधिकारियों के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है।

मुझे आशा है कि शैलीविज्ञान के स्वरूप-विवेचन तथा भारतीय दृष्टिकोण से उस पर विचार करने में मेरा यह छोटा-सा प्रयास कुछ-न-कुछ योगदान अवश्य कर सकेगा।

रामनवमी, १९७६ — **नगेन्द्र**

क्रम

शैलीविज्ञान—१

शैलीविज्ञान—२

भारतीय काव्यशास्त्र और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान

अपने उपजीव्य—साहित्य—की भाँति, वरन् उससे भी अधिक, साहित्य-समीक्षा एक सामासिक अथवा मिश्र विद्या है जिसमें मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, दर्शन, समाजविज्ञान आदि का प्रत्यक्ष-परोक्ष योगदान अनिवार्यतः रहता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उस पर युगविशेष की प्रधान प्रवृत्ति के अनुरूप इनमें से किसी-न-किसी का आक्रमण होता रहता है। प्राचीन तथा मध्य युग में दर्शन का (जिसकी परिधि में धर्म और नीतिशास्त्र का भी अंतर्भाव था) व्यापक प्रभाव था और वर्तमान युग के द्वितीय चरण में मनोविज्ञान (सामान्य एवं असामान्य) तथा समाजशास्त्र का; समसामयिक समीक्षा भाषाविज्ञान से आक्रांत है। प्राचीन काल से मध्यकाल तक साहित्य एवं कला की कल्पना मुख्यतः दिव्य चेतना के प्रतिभास रूप में ही हुई थी। यूरोप में प्लेटो, प्लोटिनस आदि, तथा बाद में मसीही संतों का और भारत में शैव-वैष्णव दार्शनिकों का सौन्दर्य-चिंतन आत्मवादी ही था। उनके लिए कविता आत्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति थी। प्लोटिनस के अनुसार प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है और वही कला का उद्गम भी है। आचार्य भट्टनायक के अनुसार यह जगत भगवान् शंकर द्वारा रचित नाटक है : सांसारिक जन इसी का लौकिक नाटकादि में अनुकरण कर निरंतर रसास्वादन करते हैं।

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शंभवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥

शैव दार्शनिकों के मत से आत्मा नट अर्थात् कलाकार है और इन्द्रियाँ प्रेक्षक हैं : **नर्तक आत्मा प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि।** आधुनिक युग के द्वितीय चरण में मनोविज्ञान के प्रभाववश कविता 'अनुभूति' बन गयी। कविता की चर्चा करते समय "हम या तो कलाकार की अनुभूति की चर्चा करते हैं, या व्युत्पन्न पाठक की जिसकी संवेदन-शक्ति निर्दोष है,

या किसी आदर्श पाठक की या अपनी अनुभूति की ही चर्चा करते हैं। +++इन संभाव्य परिभाषाओं में से किसे स्वीकार किया जाए ?"—(आई० ए० रिचर्ड्स)। मनोविश्लेषणशास्त्र के आचार्यों ने एक क़दम और आगे बढ़कर कविता या साहित्य को इच्छापूर्ति या दमित वासनाओं के प्रतीकात्मक प्रकाशन के रूप में परिभाषित किया।—इस युगीन प्रभाव के फलस्वरूप साहित्य-समीक्षा में नयी शाखाएँ फूटती रही हैं। शैलीविज्ञान के जन्म की भी ऐसी ही पूर्वकथा है। कुंती के गर्भ से भिन्न-भिन्न देवताओं के सम्पर्क से जो पुत्र उत्पन्न हुए थे उनमें से प्रत्येक में अपने पिता की गुण-गरिमा थी : कर्ण में सूर्य का तेज, युधिष्ठिर में धर्मराज की धर्म-निष्ठा, भीम में पवन का बल-वेग, अर्जुन में इन्द्र का पराक्रम और नकुल-सहदेव में अश्विनीकुमारों का रूप-सौन्दर्य एवं कला-नैपुण्य था। प्रजनन-विज्ञान के इसी नियम के अनुसार साहित्य-समीक्षा का यह कनिष्ठ पुत्र, शैलीविज्ञान, भी शायद रूपाकृति के प्रति अधिक अनुरक्त है।

भाषिक समीक्षा के प्रवर्तकों का अपने पक्ष में यह दावा है कि साहित्य के साथ जहाँ दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि का बहिरंग संबंध है, वहाँ भाषाविज्ञान का संबंध सर्वथा अंतरंग है क्योंकि साहित्य मूलतः एवं मुख्यतः भाषिक कला ही तो है। इनके तर्क से दर्शन, समाजशास्त्र आदि साहित्य के लिए परधर्म हैं और भाषाविज्ञान स्वधर्म। अतः समीक्षा का वास्तविक रूप भाषिक समीक्षा में ही उपलब्ध होता है : साहित्य भाषा-प्रयोग की कला है—अर्थात् विशेष प्रयोग-विधि या शैली है, उसकी समीक्षा इसी प्रयोग-विधि या शैली का विवेचन-विश्लेषण है और इस विवेचन-विश्लेषण की नियम-संहिता है शैलीविज्ञान।

शैलीविज्ञान : सिद्धांत और व्यवहार

शैलीविज्ञान की परिधि में सामान्यतः सिद्धांत और व्यवहार दोनों का समावेश रहता है। ऐसे निबंध अथवा प्रबंध भी जिनमें विशिष्ट कृतियों के भाषिक सौन्दर्य का विश्लेषण है, शैलीविज्ञान के ग्रंथों में संकलित रहते हैं। मेरे विचार से यह शब्द-प्रयोग की अति-व्याप्ति है : किसी भी विज्ञान अथवा शास्त्र की भाँति शैलीविज्ञान भी वस्तुतः सिद्धांत-संहिता ही है। विशिष्ट कृतियों का शैलीगत विश्लेषण

शैलीवैज्ञानिक अध्ययन है, शैलीविज्ञान नहीं—दोनों के बीच वही संबंध है जो सैद्धांतिक समीक्षा तथा व्यावहारिक समीक्षा में होता है। शैलीविज्ञान चूँकि विकास के पहले चरण में ही है, अतः उसकी परिधि-रेखा अभी स्थिर नहीं हुई और इस प्रकार की अतिव्याप्ति कहीं-कहीं मिल जाती है। विज्ञान के प्रत्येक प्रभेद की भाँति शैलीविज्ञान की परिधि में भी सिद्धांत और प्रविधि दोनों आते हैं और आने चाहिए। इन सिद्धांतों और प्रविधियों के अनुसार विशिष्ट कृतियों का अध्ययन शैलीविज्ञान का प्रायोगिक रूप है। पश्चिम के विद्वानों ने भी यह भेद किया है : सिद्धांत-प्रविधि 'स्टाइलिस्टिक्स' या शैलीविज्ञान है और प्रायोगिक अध्ययन 'स्टाइलिस्टिक स्टडी' अर्थात् शैलीवैज्ञानिक अध्ययन या 'स्टाइल-स्टडी'—शैली-विवेचन—है।[1]

शैलीविज्ञान बनाम रीतिविज्ञान

अमरीका तथा इंगलैंड में स्टाइलिस्टिक्स का प्रचार-प्रसार होने पर भारतीय भाषाओं के प्रबुद्ध विद्वानों का ध्यान भी इस नवीन प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट हुआ जो एक साथ भाषाविज्ञान और साहित्यशास्त्र की सीमाओं का स्पर्श कर रही थी, और अंगरेज़ी शब्द 'स्टाइलिस्टिक्स' के लिए हिंदी में उपयुक्त पर्याय की खोज हुई। हिंदी में स्टाइल के लिए शैली शब्द प्रायः रूढ़ हो चुका है, इसलिए 'स्टाइलिस्टिक्स' के लिए 'शैलीविज्ञान' शब्द अनायास ही प्रचलित हो गया। परंतु कुछ तत्त्ववेत्ताओं ने मूल प्रकृति का विचार करते हुए 'शैली' की अपेक्षा 'रीति' शब्द को प्रस्तुत संदर्भ के अधिक निकट पाया और 'रीति-विज्ञान' शब्द के प्रयोग को अधिक शुद्ध माना। वास्तव में इस नवीन प्रवृत्ति में जिस वस्तु-निष्ठा[2] का इतने आग्रह के साथ उल्लेख किया जाता है, उसके सही अर्थ को वहन करने के लिए 'रीति' शब्द ही अधिक उपयुक्त है। 'शैली' में जहाँ प्रयोक्ता के शील का किसी-न-

१. देखिए ग्राहम हफ़—'स्टाइल ऐंड स्टाइलिस्टिक्स', परिच्छेद २।

२. "शैलीविज्ञान वस्तुनिष्ठ साहित्य-समीक्षा से प्रायः एकरूप हो जाता है—यह वस्तुतः साहित्य-समीक्षा ही है जिसमें व्यक्तिगत रुचि-विरुचि का तत्त्व निश्शेष हो जाता है।" वॉस्लर।—(अंगरेज़ी अनुवाद)—'मैडीवल कल्चर, ऐन इंट्रोडक्शन टु दांते ऐंड हिज़ टाइम्स'।

किसी रूप में प्रतिफलन व्यंजित रहता है, वहाँ 'रीति' शब्द केवल 'गमन-विधि' या 'रचना-विधि' का ही वाचक है। कम-से-कम वामन ने 'रीति' शब्द का प्रयोग इसी वस्तुनिष्ठ अर्थ में किया है और कुंतक ने इसी अतिशय वस्तुनिष्ठता का परिहार करने के लिए 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि कुंतक का 'मार्ग' 'शैली' के अधिक निकट है। इस प्रकार, 'रीतिविज्ञान' शब्द के प्रति आग्रह संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा के साथ प्रतिबद्ध है। परंतु इसके विरुद्ध लोक-व्यवहार के अमोघ अस्त्र का प्रयोग किया जाता है : 'रीति' शब्द शास्त्ररूढ़ बनकर रह गया है और उस पुराने सिक्के को आज चालू करना कठिन है, जबकि 'स्टाइल' के सम्पूर्ण अर्थ का वहन करता हुआ 'शैली' शब्द हिंदी आलोचना का टकसाली सिक्का है। शब्दों का अर्थ—विशेषकर धारणामूलक शब्दों का अर्थ सतत विकासमान रहता है : जिस प्रकार अंगरेज़ी में 'स्टाइल' शब्द रचना-विधि के अनेक सीमांतों का स्पर्श करता हुआ अपने आधार-अर्थ को अक्षुण्ण बनाए हुए है, इसी प्रकार शैली की अर्थ-व्याप्ति को भी स्वीकार कर लेना चाहिए और उसके आधार पर 'शैलीविज्ञान' को ही 'स्टाइलिस्टिक्स' के मानक पर्याय के रूप में मान्यता प्राप्त हो जानी चाहिए, अन्यथा इस नवीन शास्त्र-विधा के नामकरण के मुहूर्त से ही विवाद आरंभ हो जाएगा।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि शैलीविज्ञान शैली का विज्ञान या शास्त्र है। १. शैलीविज्ञान का अर्थ है शैली का अध्ययन—वैज्ञानिक या कम-से-कम व्यवस्थित अध्ययन जैसा कि शब्द की व्युत्पत्ति से ध्वनित होता है। (**जी० डब्ल्यू० टर्नर—स्टाइलिस्टिक्स, पृ० ७**) २. शैलीविज्ञान साहित्य का एकमात्र विज्ञान है। (डी० एलोंज़ो—'पोइज़िया एस्पेनोला'। लातीनी भाषा का 'इक्स' प्रत्यय विद्या, शास्त्र, विज्ञान का वाचक है, 'स्टाइल'—'शैली' के साथ संयुक्त होकर यह शैली-विद्या, शैलीशास्त्र या शैलीविज्ञान का वाचक बन जाता है। वास्तव में 'विज्ञान' की अपेक्षा 'शास्त्र' शब्द प्रस्तुत प्रसंग में अधिक सार्थक है। 'शास्त्र' की अर्थ-परिधि में विज्ञान और कला का प्रतिद्वंद्व उतना मुखर नहीं है : चूँकि शैलीविज्ञान का विशेष संबंध काव्य-कला से है, इसलिए 'विज्ञान' की अपेक्षा शास्त्र का प्रयोग यहाँ स्वभावतः अधिक संगत है। परंतु 'शैलीविज्ञान' का अनुसंधान वर्तमान युग में भाषा-

वैज्ञानिकों ने किया है, अतः विज्ञान शब्द इसके साथ अनायास (अथवा सायास) जुड़ गया है। अगर काव्यशास्त्र के पण्डितों ने इस क्षेत्र में पहल की होती, तो शायद इसका नाम शैलीशास्त्र ही होता जैसा कि दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र की परिधि में विकसित 'सौन्दर्यशास्त्र' के संदर्भ में हुआ है। आगे चलकर, जब इस नवीन विद्या या विद्यांग का विकास होगा और ललित साहित्य के साथ इसका संबंध अधिक दृढ़ एवं स्थिर हो जाएगा, तो विवेचक को 'विज्ञान' शब्द में शायद अव्याप्ति का अनुभव हो सकता है। लेकिन, तब तक यह शब्द रूढ़ बन जाएगा और व्युत्पत्त्यर्थ प्रचलित अर्थ में पूर्णतः अंतर्भुक्त होकर इस विवाद का अंत कर देगा। इसलिए शब्द पर आग्रह करना ज़रूरी नहीं है, क्योंकि 'आख़िर, नाम में क्या रखा है ?'

उपर्युक्त वक्तव्य के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि शैलीविज्ञान का स्वरूप-विवेचन करने के लिए शैली का स्वरूप-विवेचन आवश्यक है।

शैली का स्वरूप-विवेचन : अर्थ और परिभाषा

शैलीविज्ञान के प्रवर्तकों ने भी अपनी इमारत शैली की बुनियाद पर ही खड़ी की है, और शैली के लक्षण-निरूपण से ही अपने विषय का प्रवर्तन किया है। परंतु उनकी परिभाषाएँ भाषाविज्ञान के रंग में रँगी हुई हैं। उनकी शुद्धता एवं संगति के विषय में मैं प्रश्न नहीं करता, किंतु शब्दावली भाषाविज्ञान की है जिससे साहित्य के सामान्य विद्यार्थी को उन्हें तत्काल ग्रहण करने में थोड़ी कठिनाई हो सकती है। अतः मैं शैली का विवेचन शब्दकोश के आधार पर शुरू करना चाहता हूँ, जहाँ सामान्य अपारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग रहता है। वस्तुपरक विवेचन में इससे सहायता मिलेगी। ऑक्सफ़र्ड इंगलिश डिक्शनरी में स्टाइल के अनेक प्रचलित-अप्रचलित अर्थ दिये गये हैं जिनमें से निम्नोक्त अर्थ प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध हैं :

(१) लेखन, लेखन की (और अर्थ-निक्षेप से वाचन की भी) विधि—व्यापक अर्थ में अभिव्यक्ति की विधि।

इस अर्थ का विकास मूल लातीनी शब्द स्तिलुस से हुआ है जिसका अर्थ है क़लम। क़लम से क़लम की प्रयोग-विधि तक अर्थ का विस्तार हो गया। भारतीय चित्रकला में भी 'क़लम' शब्द का प्रयोग 'शैली' के लिए होता है।

(२) किसी साहित्यिक लेखक (और वक्ता की भी), लेखक-वर्ग अथवा कालखण्ड की अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना-पद्धति; लेखक की रचना-प्रणाली जिसमें स्पष्टता, प्रभाव-क्षमता तथा सौन्दर्य आदि गुणों का विचार रहता है।

(उदाहरण—१. स्विफ़्ट—उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्दों का प्रयोग ही शैली की सही परिभाषा है।[1] २. स्विनबर्न—श्री रस्किन की अनुपमेय शैली[2]...)।

(३) उत्तम, रुचिकर, सुन्दर, रचना-पद्धति।

(४) सामान्य अर्थ में—किसी साहित्यिक कृति के वे गुण जिनका संबंध विचार अथवा विषयवस्तु की अपेक्षा रूप और अभिव्यंजना से ही होता है। यहाँ यह शब्द प्रायः उत्तम और सुंदर शैली के लिए प्रयुक्त होता है।

(उदाहरण—१. चैस्टर फ़ील्ड : शैली विचारों का परिधान है।[3] डी क्विन्सी : यह निश्चित है कि शैली अथवा भाषिक विधान में प्रतिपाद्य विषय के आकर्षण से भिन्न, एक पृथक् प्रकार का बौद्धिक आनन्द प्रदान करने की क्षमता होती है।[4])।

(५) सामान्य व्यवहार में बातचीत करने का ढंग या बोलचाल का लहजा। [उदाहरण—बॉसवेल : जनसाधारण की स्वतंत्रता के प्रति कठोर अवमानना का भाव व्यक्त करते हुए वे (डा० जॉन्सन) अपने परिचित लहजे (स्टाइल) में बोल रहे थे।[5]]

इन प्रसंग-सम्मत अर्थों के अतिरिक्त कोश में कुछ और भी समानांतर अर्थ दिये हुए हैं—जैसे, विभिन्न कलाओं की रचना-प्रविधि, व्यक्ति के आचार-व्यवहार का ढंग, फ़ैशन आदि।

उपर्युक्त अर्थ-मीमांसा का सार प्रस्तुत करते हुए, मिडिल्टन मरी ने 'शैली' के तीन पृथक् अर्थ स्थिर किये हैं :

१. एक नवदीक्षित युवक के नाम पत्र।
२. अध्ययन।
३. 'पुत्र के नाम पत्र' से उद्धृत।
४. ग्रंथावली ९.९३।
५. डा० जॉन्सन का जीवनचरित।

१. व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, २. विषय-प्रतिपादन की प्रविधि, ३. साहित्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि।

१. शैली कृतिकार के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य या सहज गुण है। यह लक्षण साहित्य के व्याख्याताओं में प्रायः मान्य रहा है। फ्रेंच लेखक ब्यूफ़ों की प्रसिद्ध उक्ति है : 'शैली स्वयं मनुष्य ही है।' अर्थात् शैली मनुष्य के व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या फलश्रुति है—या शैली और शैलीकार की स्थिति अभिन्न है। कतिपय आधुनिक आलोचकों ने ब्यूफ़ों की इस उक्ति के प्रचलित अर्थ का प्रतिवाद किया है : उनके अनुसार ब्यूफ़ों का आशय यह नहीं है कि शैली लेखक के सहज व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। किंतु, उक्त विवाद के बावजूद इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि शैली का व्यक्ति के साथ घनिष्ठ संबंध है—चाहे यह संबंध प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष[1]।

शोपिनहोर ने शैली को 'मन की बाह्य आकृति' कहा है और एडमंड गॉस ने 'लेखक का मानस-चित्र।'[2] भारतीय आचार्यों में दण्डी ने काव्य-मार्ग को 'प्रतिकवि-स्थित' कहा है और कुंतक ने कवि-स्वभाव को रचना-शैली का प्रेरक तत्त्व माना है—**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।**

(२) **शैली विषय-प्रतिपादन की प्रविधि है।** सामान्य भाषा में यह कह सकते हैं कि शैली किसी मंतव्य को व्यक्त करने की विशेष तकनीक या रीति है। इस लक्षण की व्यंजना यह है कि अभीष्ट अर्थ अथवा अभिप्राय को एक ख़ास अंदाज़ से, विशेष शब्दावली में ही, व्यक्त किया जा सकता है। स्विफ़्ट का लक्षण 'उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त स्थान पर प्रयोग' इसी आशय को व्यक्त करता है। अभीष्ट अर्थ के संप्रेषण के लिए यह अनिवार्य है—इसके बिना कथ्य और कथन की एकान्विति भंग हो जाएगी। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषा कथ्य और कथन के अनिवार्य संबंध को रेखांकित करती है।

(३) **शैली कलात्मक अभिव्यक्ति है और इस प्रकार वह साहित्य की चरम उपलब्धि है।** इस अर्थ में शैली रचना-सौष्ठव की पर्याय है और चूँकि रचना-सौष्ठव ही काव्य-कला है, इसलिए शैली ही काव्य

१. देखिए, मिलिक के लेख में उद्धृत एमिली क्रेंट्ज़ का मत : 'लिटरेरी स्टाइल'—सं० सीमूर चैटमैन, पृ० ७८.
२. 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में प्रकाशित शैली-विषयक टिप्पणी।

का प्राण-तत्त्व है। इस तथ्य का निर्भ्रांत प्रतिपादन किया है भारतीय आचार्य वामन ने : 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। यहाँ 'शैली' शब्द सौन्दर्य या काव्यगुण का वाचक है। ऑक्सफ़र्ड डिक्शनरी के अनुसार शैली का एक अर्थ 'आकर्षक गुण' भी है और वही यहाँ अभिप्रेत है। डी क्विन्सी ने इसी दृष्टि से कहा है कि शैली में प्रतिपाद्य विषय से निर-पेक्ष एक विशेष प्रकार का बौद्धिक आनन्द देने की क्षमता होती है।

साहित्य एवं साहित्यशास्त्र में शैली के प्रायः ये ही अर्थ प्रचलित रहे हैं। किंतु पिछले दो दशकों में भाषाविद् आलोचकों ने भाषा-वैज्ञानिक शब्दावली में शैली की वस्तुपरक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं :

(१) प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक बर्नार्ड ब्लॉख़ के अनुसार किसी वक्तव्य की शैली उसकी ऐसी भाषिक विशेषताओं में निहित रहती है जो उसे समग्र भाषा में प्रयुक्त समान भाषिक रूपों से पृथक् करती है (**लिंग्वि-स्टिक स्ट्रक्चर ऐंड लिंग्विस्टिक एनालिसिस**)।

स्टीफ़ेन उलमान ने ऐसी कुछ-एक परिभाषाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है[1] :

(२) अन्य विद्वानों के मत से शैली विचारित या अविचारित चयन-प्रक्रियाओं की फलश्रुति होती है। इनकी विचारधारा एक प्रसिद्ध पाठ्य-ग्रंथ में उद्धृत इस सूत्र के अनुसार चलती है : "एक ही भाषा की दो उक्तियाँ, जिनका वाच्यार्थ प्रायः समान होते हुए भी भाषिक संरचना भिन्न होती है, शैली की दृष्टि से भिन्न मानी जा सकती हैं।"[2]

(३) "एक अन्य वर्ग संदर्भगत (संदर्भतः सम्बद्ध) प्रतिमान से विपथन को शैली का मूल आधार मानता है : इनमें से कुछ समीक्षक इस प्रकार के विपथन-रूपों का उल्लेख और आख्यान भर कर देना पर्याप्त मानते हैं, जबकि कुछ अन्य समीक्षक उन्हें सांख्यिकीय शब्दावली में प्रतुत करने की चेष्टा करते हैं।"[3]

(४) शायद इनमें सबसे निस्संग परिभाषा वह है जिसके अनुसार शैली, अर्थ-बोध से भिन्न, अर्थव्यक्ति की समानार्थक है। वैलरी ने

१. 'स्टाइलिस्टिक्स ऐंड सिमेंटिक्स' ('लिटरेरी स्टाइल—ए सिम्पोज़ियम'—सं० सीमूर चैटमैन।
२. सी० एफ़० हॉकेट—'ए कोर्स इन माडर्न लिंग्विस्टिक्स' (१९५८)।
३. एन० ई० एंक्विस्ट—'ऑन डिफ़ाइनिंग स्टाइल' ('लिंग्विस्टिक्स ऐंड स्टाइल', १९६४)।

इस प्रकार की व्यंजनात्मक युक्तियों के अध्ययन पर बल दिया है जिनसे भाषा की शक्ति का संवर्धन होता है ।[1]

(५) एक लैटिन-अमरीकी समीक्षक ने शुद्ध अभावात्मक शब्दावली में शैली-तत्त्व की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उनके मत से शैलीविज्ञान भाषा के ऐसे तत्त्वों का अध्ययन है जो तर्कातीत हैं (सामान्य नियमों से परे हैं) ।[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार शैली के निम्नोक्त अर्थ सिद्ध होते हैं : १. (व्यक्ति-सापेक्ष) भाषिक चयन; २. प्रासंगिक मानक भाषा से विपथन; ३. प्रभावी अभिव्यंजना; ४. असामान्य (अतर्क्य) भाषिक प्रयोग ।

कोशगत सामान्य परिभाषाओं और नवीन भाषिक परिभाषाओं में केवल दृष्टिकोण तथा शब्दावली का भेद है, और एक लक्षण ऐसा है जो सब में समान रूप से व्याप्त है : शैली विशेष भाषिक संरचना है। "भाषिक अर्थ में 'शैली' शब्द प्रायः सामान्य से भिन्न विशेष प्रयोग का वाचक है।" (**ऐरिक वैलान्डर, पृ० १८—अंगरेज़ी अनुवाद**) । इनमें जो भेद दृष्टिगत होता है, वह 'विशेष' शब्द के विभिन्न अर्थों के कारण है। वैशिष्ट्य का आधार प्रयोक्ता का व्यक्तित्व हो सकता है, विषय का स्वरूप हो सकता है, रचना-विधा हो सकती है, संदर्भ, और इन सब में व्याप्त, या स्वतंत्र रूप से, कलात्मक उद्देश्य हो सकता है। 'रस्किन की अनुपमेय शैली' अथवा 'विचारित या अविचारित चयन-प्रक्रियाओं की फलश्रुति' में वैशिष्ट्य व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर करता है। 'उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्दों का प्रयोग' में वह विषय अथवा संदर्भ-सापेक्ष है, 'अर्थबोध से भिन्न अर्थव्यक्ति' अथवा 'व्यंजनात्मक युक्ति' में वह प्रभावमूलक है, 'भाषिक विधान जिसमें प्रतिपाद्य विषय के आकर्षण से भिन्न एक विशेष प्रकार का बौद्धिक आनन्द देने की क्षमता होती है' अथवा 'साहित्य की चरम उपलब्धि' में वैशिष्ट्य का आधार कलात्मक सौन्दर्य, नन्दन-तत्त्व या लालित्य गुण है। 'प्रतिमान से विपथन' या 'अतर्क्य भाषिक प्रयोग' में केवल भाषा की दृष्टि से वैशिष्ट्य का वर्णन किया गया है : यहाँ वैशिष्ट्य के स्वरूप मात्र का

१. इंट्रोडक्शन : 'अँ ला पोइतिक', पृ० १२ ।

२. आर० फ़र्नेन्डीज़ रेटमर—'ईदया दे ला इस्तिलिस्तिका', पृ० ११ ।

उल्लेख है, उसके कारण या फल का नहीं।—और, यही परम्परागत साहित्यिक दृष्टिकोण तथा आधुनिक भाषिक दृष्टिकोण का मूल अंतर है। साहित्यिक विवेचन में जहाँ वैशिष्ट्य के कारण और प्रभाव पर बल है, वहाँ भाषिक विवेचन स्वरूप-वर्णन से आगे बढ़ने का क़ायल नहीं है :—

(१) वैधानिक रूप से शैलीवैज्ञानिक अध्ययन तटस्थ और वस्तु-निष्ठ होने का प्रयत्न करता है; किंतु सामान्य आलोचना में विश्लेषण और निरीक्षण-परीक्षण का उपयोग किसी अन्य प्रयोजन के लिए होता है। (ग्राहम हफ़, स्टाइल ऐंड स्टाइलिस्टिक्स, पृ० ३७)।

(२) किंतु यदि अध्येता का ध्यान हेतु और परिणाम की अपेक्षा, रचयिता की कला पर ही केन्द्रित होगा+++ तो उसका अध्ययन शैलीवैज्ञानिक होगा। (ग्राहम हफ़, पृ० ११)।

यहाँ एक प्रश्न और सामने आता है : शैली की परिधि को साहित्य तक ही सीमित माना जाए अथवा उसकी व्याप्ति सामान्य व्यवहार-भाषा तक है? उपर्युक्त परिभाषाओं में अधिकांश का संबंध साहित्यिक शैली से ही है किंतु कुछ-एक ऐसी अवश्य हैं जिनकी व्याप्ति साहित्येतर क्षेत्र—लोक-व्यवहार तथा शास्त्रादि तक है। 'व्यक्तित्व का प्रति-फलन', 'विषय-प्रतिपादन की प्रविधि', 'विचारित अथवा अविचारित चयन-प्रक्रिया' आदि लक्षण साहित्य तथा लोक-शास्त्र दोनों क्षेत्रों में घटित हो सकते हैं। लोक-व्यवहार में हर व्यक्ति की—कम से-कम हर प्रबुद्ध व्यक्ति की अपनी भाषिक शैली होती है, सामाजिक स्तर अथवा वर्ग की अपनी शैली होती है : एक ही भाषा की परिधि के भीतर प्रत्येक की अपनी विशेष प्रयोग-विधि होती है। इसी प्रकार 'विषय-प्रतिपादन की प्रविधि' की संगति साहित्य के साथ-साथ शास्त्र के साथ भी बैठ जाती है : **प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत्सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।** 'प्रतिमान से विपथन' तथा 'अतर्क्य भाषा प्रयोग' की सार्थकता यद्यपि साहित्य में ही अधिक है, किंतु सामान्य व्यवहार में भी वह असंगत नहीं है। लोक-व्यवहार तथा शास्त्रीय प्रति-पादन में भी वक्तव्य को प्रभावी तथा सशक्त बनाने के लिए 'प्रतिमान से विपथन' तथा 'अतर्क्य भाषा' जैसी युक्तियों का जाने-अनजाने उप-योग होता रहता है। इस प्रकार, केवल एक तत्त्व ऐसा है जो साहित्य के प्रसंग में ही संगत है और वह है सौन्दर्य या नन्दन तत्त्व—'प्रतिपाद्य

विषय के आकर्षण से भिन्न एक प्रकार का बौद्धिक आनंद प्रदान करने की क्षमता'। इसका समावेश होते ही शैली का स्वरूप साहित्यिक बन जाता है चाहे उसका आधार लिखित हो या मौखिक।

शैली की व्याप्ति

शैली के स्वरूप को और स्पष्ट करने के लिए साहित्य के साथ उसके संबंध तथा अन्य समानार्थक प्रत्ययों से भेदाभेद का निरूपण उपयोगी होगा। भाषाविद् आलोचक के लिए समस्या अत्यंत सरल है : उसके लिए साहित्य एक विशेष प्रकार का भाषिक विधान मात्र है। चूँकि शैली भी विशेष प्रकार के भाषिक विधान का ही नाम है, अतः शैली साहित्य के सम्पूर्ण अस्तित्व से सह-सम्बद्ध है और साहित्य का अध्ययन वास्तव में शैली का ही अध्ययन है। आधुनिक भाषाविद् आलोचकों का तो यह स्पष्ट विचार है ही, पूर्ववर्ती अनेक आलोचक भी जिनका झुकाव अभिव्यक्ति की ओर रहा है, इसी प्रकार का मत व्यक्त करते रहे हैं। मिडिल्टन मरी का भाषावैज्ञानिक शिविर से कोई ख़ास संबंध नहीं है, फिर भी उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि प्रॉब्लम ऑफ़ स्टाइल' में साफ़ लिखा है : "शैली के विवेचन में सम्पूर्ण साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र तथा आलोचना की सिद्धांत-संहिता आ जाएगी।" (१९६०, पृ० ३)। प्राचीन काल के यूनानी-रोमी रीतिशास्त्र में और सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी की नव्यशास्त्रवादी आलोचना में काव्यभाषा पर काफ़ी बल दिया गया है। फिर भी, बहुमत इसे स्वीकार नहीं करता : कथन-भंगिमा को अनिवार्य तत्त्व मानते हुए भी वह कथ्य को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानता है। कथ्य के अंतर्गत राग-तत्त्व और विचार-तत्त्व आते हैं जिन्हें भाषाविद् आलोचक ने 'रागात्मक हेत्वाभास' और 'विचारात्मक हेत्वाभास' कहकर समीक्षा के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया है। पर यह एक अतिवाद मात्र है।

सामान्य समीक्षाशास्त्र साहित्य के समस्त मूर्त-विधान को केवल भाषिक नहीं मानता; उसकी निश्चित मान्यता है कि साहित्य-कृति का रूप-विधान जो उसका गोचर अस्तित्व है केवल भाषिक रचना नहीं है। इसलिए वह काव्य के मूर्त-विधान के संदर्भ में शैली के अतिरिक्त रूप (फ़ॉर्म), शिल्प, कला आदि अन्य पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग करता है जो साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण अव-

धारणाओं के प्रतीक हैं। शैली के स्वारूप्य को स्थिर करने के लिए उसे इनके संदर्भ में देखना आवश्यक है। रूप या रूपविधान की अवधारणा शैली की अपेक्षा अधिक व्यापक है। शैली उसका भाषिक आधार है और इस दृष्टि से उसका अनिवार्य महत्त्व असंदिग्ध है, पर रूप की संरचना के लिए इसके अतिरिक्त एक भाषेतर तत्त्व—एक मूल विचार—अनिवार्य है जो विभिन्न भाषिक घटकों को समेकित करता हुआ उस समस्त विधान को आकार देता है—इसी को सौन्दर्यशास्त्र में 'समेकन सिद्धांत' कहा गया है। यह कलाकृति के समग्र रूप की 'संकल्पना' है जिसमें भाषिक नैपुण्य से आगे सर्जनात्मक कल्पना का मौलिक योगदान रहता है। कुछ समीक्षकों ने रूप के दो भेद किये हैं—आंतरिक रूपविधान और बाह्य रूपविधान। क्रोचे जैसे अखण्डतावादी कला-दार्शनिक ने भी व्यावहारिक स्तर पर पहले को सहजानुभूति[1] और दूसरे को मूर्तविधान[2] कहा है। इस प्रकार के विचारक बाह्य विधान को 'रूप' और आंतरिक विधान तथा बाह्य विधान की समन्विति को 'कला' कहते हैं। 'शिल्प' शब्द का आयात साहित्य-समीक्षा में प्रायः तब से हुआ है जब से ललित कलाओं के अंतःसंबंध तथा पारस्परिक अंतर्निवेश की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक स्तर पर विशेष चर्चा होने लगी है। 'शिल्प' शब्द अंगरेज़ी 'क्राफ़्ट' का पर्याय है। ये दोनों ही शब्द ललित कलाओं—वरन् उनसे हीनतर उपयोगी कलाओं से संबद्ध हैं। इनका अर्थ है 'कारीगरी' जिसमें प्रेरक अनुभूति और सर्जक कल्पना की अपेक्षा प्रशिक्षण और अभ्यास से अर्जित हस्त-कौशल का प्राधान्य रहता है। इसका प्रयोग प्रायः 'संकल्पना' से भिन्न 'निर्मिति' के संदर्भ में होता है; कला की संपूर्ण गरिमा इसे प्राप्त नहीं है। लेकिन, यह शायद काव्यशास्त्र का मानक शब्द नहीं है और साहित्य-समीक्षा में प्रायः कला शब्द के आसपास चक्कर काटता रहता है।

शैली का इन अवधारणाओं के साथ क्या संबंध है? यह स्पष्ट कर लेने पर शैली की परिधि या व्याप्ति की सीमारेखा स्पष्ट हो जाएगी। साहित्य के संदर्भ में शैली यदि एक विशेष भाषिक प्रयोग-विधि अथवा

१. इन्ट्यूशन
२. एक्सटर्नलाइज़ेशन।

कथन-भंगिमा है, तो उसकी व्याप्ति भाषा तक ही हो सकती है। जहाँ भाषेतर तत्त्वों का विनियोग है वहाँ तक शैली का क्षेत्र-विस्तार नहीं है। इस दृष्टि से, उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह निर्णय किया जा सकता है कि—

(१) शैली की व्याप्ति साहित्य के सम्पूर्ण रूप तक नहीं है क्योंकि साहित्य में कथ्य या अनुभूति का महत्त्व भी कथन या भाषा से कम नहीं है।

(२) शैली कला का भी पर्याय नहीं हो सकती क्योंकि कला में संकल्पना और भाषिक रूपविधान दोनों का समीकरण है।

(३) वह समग्र रूपविधान को भी अपनी परिधि में अंतर्भूक्त नहीं कर सकती क्योंकि रूपविधान का समेकन सिद्धांत[1] भाषिक सीमाओं से कहीं अधिक व्यापक है। कोलरिज की शब्दावली का उपयोग करते हुए कहें कि उनके लिए मौलिक कल्पना[2] अनिवार्य है जबकि भाषिक संरचना के लिए गौण कल्पना[3] ही पर्याप्त होती है।

(४) शिल्प, जैसा कि मैंने कहा, मानक अवधारणा नहीं है। फिर भी, जिस अर्थ में उसका प्रयोग होता है—अर्थात् निर्मिति-कौशल के अर्थ में, उसमें वह प्रायः शैली के समानांतर चलता है।

यहाँ हमने केवल व्यावहारिक धरातल पर वर्ग-विभाजन और भेद-विश्लेषण किया है। तात्त्विक दृष्टि से कथ्य और कथन, अनुभूति और अभिव्यक्ति, मूल प्रयोजन और कला, वस्तु और रूप का भेद मिथ्या है और साहित्य अथवा कला की अद्वैत भावना ही शायद सत्य है। लेकिन अद्वैत की सिद्धि के लिए उसके विवर्त रूपों का आश्रय लिये बिना दर्शन की भूमिका पर भी काम नहीं चलता, काव्य-चिंतन की भूमिका तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूर्त एवं व्यावहारिक है। और फिर, साहित्य का सौन्दर्य-दर्शन इस अमूर्त धारणा के आधार पर थोड़ा-बहुत आगे बढ़ सकता है और अनेक संदर्भों में आगे बढ़ा भी है, परंतु एकांत वस्तुपरक दृष्टि से मूर्त भाषिक विश्लेषण में संलग्न शैली-विज्ञान ने तो अपना रास्ता चारों ओर से बन्द कर लिया है। आरंभ

१. ऑर्गनाइज़िंग प्रिंसिपिल
२. प्राइमरी इमेजिनेशन
३. सेकंडरी इमेजिनेशन

में भाषाविद् आलोचक, क्रोचे के एक विशेष सूत्र से कि 'सौंदर्यशास्त्र भाषाविज्ञान का ही नाम है,'[1] अत्यंत उत्साहित हुआ था, किंतु शीघ्र ही उसे मालूम हो गया कि यह नारा एकदम भ्रामक है और क्रोचे भाषाविज्ञान तथा भाषावैज्ञानिक आलोचना दोनों का ही खतरनाक दोस्त है : वह तो वर्गीकरण-विश्लेषण के उस संपूर्ण प्रपंच का ही निषेध करता है जिसके आधार पर इन दोनों शास्त्रों का भवन खड़ा हुआ है। अतः किसी भी प्रकार की समीक्षा के संदर्भ में तात्त्विक अद्वैत की बात करना अव्यावहारिक है। कलानुभूति के 'समीकरण-सिद्धांत' के प्रमुख पुरोधा आई० ए० रिचर्ड्स का निश्चित मत है कि काव्यार्थ में चार अर्थगत स्तरों[2] का समन्वय रहता है : किंतु अमूर्तन पद्धति से उन पर अलग-अलग विचार किया जा सकता है और शैलीगत अध्ययन के लिए इस प्रकार का पृथक् विचार अनिवार्य है।[3]

शैलीविज्ञान की परिधि

शैली के इस स्वरूप-विवेचन से यह संकेत मिलता है कि शैली-विज्ञान के दो अर्थ या रूप हो सकते हैं : १. शैलीविज्ञान शैली मात्र अर्थात् शैली के व्यापक रूप का अध्ययन है जिसके अंतर्गत लोक, शास्त्र तथा साहित्य सभी का व्यवहारगत—प्रायोगिक—भाषिक विधान आ जाता है। २. शैलीविज्ञान साहित्यिक शैली अर्थात् कलात्मक भाषिक विधान का अध्ययन है।—शैलीविज्ञान के उन्नायकों में इस विषय में थोड़ा मतभेद है : चार्ल्स बेली, याकोबसन आदि विद्वान् जिनका झुकाव भाषाविज्ञान की ओर है, शैली के व्यापक रूप के अध्ययन को शैलीविज्ञान का लक्ष्य मानते हैं और इस प्रकार उसे भाषाविज्ञान की ही एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं। चार्ल्स बेली के अनुसार : 'शैलीविज्ञान' प्रकृत भाषा का अध्ययन है जिसे हम सब बोलते हैं : यह न तो शुद्ध तर्क (दर्शन) का अनुगत है और न कला का; इसके सामने न कोई तार्किक (दार्शनिक) आदर्श रहता है

१. देखिए, क्रोचे : 'एस्थेटिक्स', अध्याय १८—'एस्थेटिक्स इज़ लिंग्विस्टिक्स'।
२. वाच्यार्थ, भाव, काकु, अभिप्राय।
३. देखिए, ग्राहम हफ़ : 'स्टाइल ऐंड स्टाइलिस्टिक्स' (१९६९) में आई० ए० रिचर्ड्स पर टिप्पणी, पृ० ८६.

और न साहित्यिक। ('लॅ लान्गाज ए ला वी', पृ० १४)

बेली का स्पष्ट मत है कि "सामान्य परिस्थितियों में व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त भाषा और कवि, उपन्यासकार अथवा वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा के बीच एक अलंघ्य खाई है। साहित्यकार के लिए परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न हैं : वह सुविचारित रीति से भाषा का स्वैच्छिक प्रयोग करता है—दूसरे, और यह सबसे मुख्य बात है, वह भाषा का प्रयोग कलात्मक प्रयोजन से करता है, वह शब्दों के द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करने का प्रयत्न करता है—जैसे चित्रकार रंगों के द्वारा और संगीतकार स्वरों के द्वारा करता है।" ('त्रेते दॅ ला स्तिलिक फ़्रांसाए', पृ० १९)। इसी तर्क के आधार पर, शैलीविज्ञान के इस प्रवर्तक ने 'भाषा के समस्त व्यंजक साधनों के अध्ययन' के रूप में ही उसकी परि-कल्पना की और साहित्यिक भाषा को—अर्थात् 'सौन्दर्य की दृष्टि से संरचित शब्द-विधान' को उसकी परिधि से बहिष्कृत कर दिया।

रोमन याकोबसन तो सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को ही भाषाविज्ञान का अंग मानते हैं : "चूँकि भाषाविज्ञान भाषिक रचना का सार्वभौम विज्ञान है, इसलिए काव्यशास्त्र को भाषाविज्ञान का सहज अंग माना जा सकता है।" ('स्टाइल इन लैंग्वेज', १९६४, सं०—सिबिओक—भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र, उपसंहार, पृ०३५०)।

प्रोफ़ेसर नाए ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा : शैली-विज्ञान 'सामान्य भाषा'[1] के भाषाविज्ञान से सर्वथा भिन्न 'विशेष भाषा'[2] (वैयक्तिक भाषा) का भाषाविज्ञान है।

इसके विपरीत क्रैसो, स्पिट्ज़र, उलमान, रेने वैलेक, एंक्विस्ट, आदि की निश्चित धारणा है कि शैलीविज्ञान का मुख्य विषय साहित्यिक शैली ही है। अपने गुरु बेली से असहमति व्यक्त करते हुए क्रैसो ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की : "हम तो बल्कि यहाँ तक कहेंगे कि साहित्य शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का सबसे उत्तम क्षेत्र है—ठीक इसलिए कि यहाँ भाषिक चयन अधिक स्वैच्छिक एवं सुविचारित है।" ('लॅ स्तील आँ से तैकनीक', १९४७, पृ० ३)। लिओ स्पिट्ज़र की मान्यता है कि साहित्य-कृति के अंतःस्वरूप की व्याख्या करना—यही

१. लांग।
२. पैरोल।

शैलीविज्ञान का प्रयोजन है। उनके अनुसार 'रचना की व्याख्या का अर्थ उसके सौन्दर्य की समीक्षा' ही है। (लिंग्विस्टिक्स ऐंड लिटरेरी हिस्टरी', पृ० १२८)। रेने वैलेक शैलीविज्ञान के व्यापक रूप से इनकार नहीं करते, किंतु उनका स्पष्ट मत है कि "शैलीविज्ञान साहित्य-विद्या का अंग तभी बन सकता है जब वह सौन्दर्य-विषयक जिज्ञासा को केंद्र में रखकर चलेगा।" ('थिअरी ऑफ़ लिटरेचर'—पेंग्विन सीरीज़, १९६६, पृ० १८०)। सैस के मतानुसार साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से शैली एक सर्वथा भिन्न विधान का अंग है जो वस्तुत: भाषिक नहीं है और उसी संदर्भ में उसको ग्रहण करना चाहिए। (भूमिका—'लिटरेरी स्टाइल', सं० सीमूर चैटमैन)। इसी प्रकार ज्योफ़्रे एन० लीच ने अपने पाठ्य-ग्रंथ के आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया है: "शैलीविज्ञान से मेरा अभिप्राय है केवल साहित्यिक शैली का अध्ययन—या और साफ़ शब्दों में साहित्य में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन। ('ए लिंग्विस्टिक गाइड टु इंगलिश पोइट्री', १९७४, पृ० १)।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भाषाविज्ञान अध्ययन की दृष्टि से भाषा के तीन प्रमुख स्तर मानता है: १. मानक भाषा, २. वैयक्तिक भाषा और ३. साहित्यिक भाषा। मानक भाषा, जिसे सॉस्यूर आदि ने 'लांग' कहा है, परम्परा-सिद्ध शास्त्र-सम्मत भाषा—अथवा यह कहें कि भाषा का अमूर्त धारणात्मक रूप है, जो अन्य रूपों का आधार भी है और मानक भी। व्याकरण, कोश आदि में भाषा का यही रूप मिलता है। वैयक्तिक भाषा भाषा का जीवंत, प्रायोगिक रूप है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने भावों और विचारों को व्यक्त करता है। इसे सॉस्यूर ने, और बाद में बेली आदि ने 'पैरोल' कहा है। साहित्यिक भाषा जीवंत भाषा का एक विशिष्ट रूप है जिसकी संरचना कलात्मक प्रयोजन से—सौंदर्यमूलक दृष्टिकोण से की जाती है। इनमें से पहला—मानक रूप भाषावैज्ञानिक अध्ययन का विषय है, दूसरा—अर्थात् वैयक्तिक या प्रायोगिक रूप ही शैलीविज्ञान की परिधि में आता है, यहाँ तक तो कोई विवाद नहीं है किंतु इसके आगे विवाद आरंभ हो जाता है। प्रायोगिक भाषा का समग्र रूप? अथवा कलात्मक प्रयोजन से संरचित विशेष रूप?

शैलीविज्ञान के उद्भव और विकास-क्रम पर दृष्टिपात करने से शायद वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने में सहायता मिल सकती है। पिछले

दो दशकों में भाषाविज्ञान के पुरोधाओं ने, जिनमें सॉस्यूर, चार्ल्स बेली आदि प्रमुख थे, जीवंत भाषा के विविध क्षेत्रों का संधान करते हुए यह अनुभव किया कि साहित्य के समृद्ध भाषिक विधान का अध्ययन किये बिना भाषाविज्ञान का वृत्त अपूर्ण रह जाएगा, जिस प्रकार कि वर्तमान श[illegible] के पूर्वार्ध में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र के उन्नायकों ने साहित्य में उपलब्ध मनस्तत्त्व के विवेचन को अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में स्वीकार किया था। दूसरी ओर, साहित्य के क्षेत्र में भी भाषाविज्ञान के वर्धमान प्रभाव को स्वीकार करते हुए नये आलोचकों—इंगलैंड में रिचर्ड्स और ऐम्पसन ने तथा अमरीका में रेन्सम, क्लीन्थ ब्रुक्स, विमसाट आदि—ने यह अनुभव किया कि भाषाविज्ञान की प्रविधियों के आधार पर साहित्य का भाषिक अध्ययन प्रस्तुत करना साहित्य-समीक्षा का अधिक वैज्ञानिक रूप है।

"आधुनिक शैली-विवेचन की प्रेरक प्रवृत्तियाँ यों तो अनेक हैं, परंतु उनमें दो प्रमुख हैं। एक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से आई है और दूसरी साहित्य-समीक्षा से। साहित्य-समीक्षा से प्राप्त प्रेरणा के उद्गम-क्षेत्र अमरीका-इंगलैंड हैं और दूसरी के हैं यूरोप महाद्वीप के विभिन्न प्रदेश जो रोमान्स भाषाओं के अध्ययन-केन्द्र रहे हैं। उनके उद्देश्य अंशतः भिन्न हैं, लेकिन अपने मुख्य कार्यक्रम में दोनों का संबंध प्रायः एक ही विषय से रहा है।"—(ग्राहम हफ़ 'स्टाइल ऐंड स्टाइलिस्टिक्स', पृ० १२)।

भाषाविज्ञान के क्षेत्र से आवाज़ उठी कि "भाषाविद्, जिसके क्षेत्र में भाषा का प्रत्येक रूप आता है, अपने अध्ययन की परिधि में कविता का भी समावेश कर सकता है और उसे अवश्य ही करना चाहिए।" (याकोबसन)। उधर साहित्य-समीक्षक ने महसूस किया है कि "किसी लेखक की कला का अधिक-से-अधिक विस्तार, उसके रागात्मक अनुभव की गहराई—उसके आध्यात्मिक दर्शन की ऊँचाई केवल शब्दों के माध्यम से व्यक्त हो सकती है और शब्द-विधान की परीक्षा के द्वारा ही उनका मर्म-बोध हो सकता है।" (ग्राहम हफ़)। इन दोनों प्रवृत्तियों के विनिमय और संयोग से ही शैलीविज्ञान का जन्म हुआ है और उसके स्वरूप का निर्णय करने में इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में रखना होगा।

इस विकास-क्रम के आधार पर यह कहना असंगत नहीं होगा कि

यद्यपि बेली आदि ने व्यवहारगत जीवंत भाषा-शैली को ही शैली-विज्ञान का विषय माना है और साहित्यिक भाषा-शैली का बहिष्कार किया है, फिर भी बहुमत प्रायः यही है—और होता जा रहा है कि शैलीविज्ञान मुख्यतः साहित्य की भाषा-शैली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन है। इस तथ्य को कई प्रकार से व्यक्त किया गया है : शैलीविज्ञान साहित्य का भाषिक अध्ययन है; शैलीविज्ञान साहित्यिक भाषा-शैली का वैज्ञानिक अध्ययन है; शैलीविज्ञान साहित्य का विज्ञान है; शैली-विज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसका क्षेत्र है साहित्य; शैली-विज्ञान समीक्षा का वह नवीन आयाम है जो साहित्य का अध्ययन भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों और प्रविधि के आधार पर करता है—आदि, आदि।

उपर्युक्त निर्णय के मूल में सीधा तर्क है : शैली का प्रायः सर्वमान्य अर्थ है—सामान्य से भिन्न भाषिक प्रयोग-विधि=कथन-भंगिमा। सामान्य से पार्थक्य का द्योतन करने के लिए 'विपथन', 'रूप-भेद', 'व्याकरण-मुक्त प्रयोग', 'अतर्क्य प्रयोग' आदि जिन शब्दों या शब्द-समूहों का उपयोग किया गया है, उनका समाहार 'भंगिमा' में प्रायः हो जाता है। कथन-भंगिमा के इन सभी तत्त्वों का सर्वश्रेष्ठ (क्रैसो के शब्दों में 'पार एक्सलेंस')—अर्थात् सबसे अधिक प्रभावी एवं समृद्ध रूप मिलता है साहित्यिक शैली में। अतः शैलीविज्ञान का वास्तविक विवेच्य विषय साहित्यिक शैली ही है—जो प्रायोगिक शैली का स्फटिक रूप है।

यहाँ उन तर्कों पर भी विचार कर लेना उपयोगी होगा जिनके आधार पर चार्ल्स बेली ने केवल जीवन-व्यवहार में प्रयुक्त व्यक्ति-सापेक्ष भाषा को ही शैलीविज्ञान का विषय माना है और साहित्य की भाषा का उसके क्षेत्र से बहिष्कार कर दिया है। उनके मत से परम्परासिद्ध, शास्त्रसम्मत, मानक या परिनिष्ठित भाषा भाषाविज्ञान का अध्येय है और उस पर आधृत किंतु उससे भिन्न व्यवहारगत जीवंत भाषा, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने राग-द्वेष और अभिप्रायों को व्यक्त करता है, शैलीविज्ञान का। इस प्रकार, शैलीविज्ञान प्रायोगिक भाषा के रागात्मक तथा व्यंजक[1] तत्त्वों के निरीक्षण-परीक्षण पर केन्द्रित होने

१. ऐफ़ेक्टिव ऐंड ऐक्सप्रेसिव।

के कारण भाषाविज्ञान से स्वतंत्र सत्ता का अधिकारी बन जाता है। बेली का पूरा बल प्रायोगिक जीवंत भाषा पर है—व्यक्ति के राग-द्वेष और संकल्प-विकल्प की भाषा पर, जिसके माध्यम से जोवन-व्यापार चलता है। यह भाषा स्थिर, अमूर्त और प्रत्यय-रूप न होकर स्वतः-स्फूर्त, परिवर्तनशील, मूर्त और वास्तविक होती है।—इसके विपरीत, साहित्य की भाषा यत्नसाध्य एवं सचेष्ट होती है, जिसमें प्रयोक्ता के संकल्प और चयन-विवेक का प्राधान्य रहता है। मैं समझता हूँ, और बेली के परवर्ती विद्वानों, स्वयं उनके शिष्यों ने भी कहा है कि पृथक्करण का यह आधार शुद्ध नहीं है। शास्त्र की भाषा से साहित्य की भाषा अपने रागात्मक तत्त्व के कारण विशिष्ट होती है और लोक की भाषा से अपनी समृद्ध व्यंजना-शक्ति के कारण; इस प्रकार जीवंत भाषा के जिन दो व्यावर्तक धर्मों—रागात्मक तथा व्यंजक तत्त्वों—को बेली ने रेखांकित किया है, उनका उत्तम रूप साहित्य में ही मिलता है। इसके अतिरिक्त स्वतःस्फूर्ति, आवेग-दीप्ति तथा प्रकृत गुणों का अभाव भी साहित्य की भाषा में नहीं रहता; उसका चयन-विवेक यत्नसाध्य न होकर सर्जन-प्रक्रिया का सहज अंग बन जाता है। बेली ने प्रायोगिक भाषा के जिन जीवंत, व्यक्ति-सापेक्ष, रागात्मक, व्यंजक आदि विशेषणों पर बल दिया है, वे ही काव्यभाषा के भी अनिवार्य विशेषण हैं। दोनों में भेद प्रकृति का नहीं है, गुण और परिमाण का है। कलाकार भी उसी प्रकार रागद्वेष, संकल्प-विकल्प, सदसद्विवेक से युक्त सवासन व्यक्ति है जिस प्रकार कि सामाजिक। अंतर इतना ही है कि अपनी विशिष्ट शक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर उसके रागद्वेष की परिधि अधिक व्यापक और स्तर अधिक सूक्ष्म-गहन है और उसके भाषिक साधन अधिक समृद्ध अर्थात् प्रचुर और वैविध्यपूर्ण हैं। भाषा-वैज्ञानिकों ने काव्यभाषा को 'सौन्दर्यमूलक प्रयोजन से संघटित' कहा है। यह लक्षण अपने सहज अर्थ में ठीक ही है—इस अर्थ में कि कवि की भाषा वाच्यार्थ में उद्गार या चीत्कार नहीं है : कवि की सर्जक कल्पना अपने भाषिक साधनों का संघटन करती है। किंतु, इस तरह जीवंत भाषा भी भाव का उद्गार मात्र नहीं है : प्रयोक्ता अपने कथन को व्यंजक अथवा प्रभावी बनाने के लिए जाने-अनजाने—प्रायः अनजाने लेकिन अनेक बार विचारपूर्वक भी, अपने भाषिक साधनों का संघटन करता है। और, दोनों के उद्देश्य भी प्रकृत्या भिन्न नहीं हैं, उनमें भी

गुणात्मक भेद ही है। दोनों के भाषिक विधान का मूलतः एक ही प्रयोजन है : आत्माभिव्यक्ति, और स्पष्ट शब्दों में—अभीष्ट अर्थ की अधिक-से-अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति। सामाजिक का उद्देश्य व्यावहारिक होता है और उसकी सरलता-जटिलता के अनुपात से ही भाषिक विधान में सरलता तथा जटिलता का अनुपात रहता है। साहित्यकार का उद्देश्य व्यावहारिक धरातल से ऊपर, स्व-पर अर्थात् संकुचित स्वार्थों से मुक्त सर्जनात्मक होता है जिसमें मानव-चेतना भाव-कल्पना के माध्यम से आत्मलाभ अर्थात् अपनी सार्थकता का अनुभव करती है। यह उद्देश्य निश्चय ही अधिक संश्लिष्ट एवं निर्वैयक्तिक है, अतः उसी अनुपात से कलाकार का भाषिक विधान भी अधिक संश्लिष्ट एवं जटिल होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि बेली या कुछ अन्य भाषावैज्ञानिकों ने साहित्य पर किसी विलक्षण प्रयोजन और उसी के अनुरूप साहित्य की भाषा पर विलक्षण निर्मिति का जो आरोपण किया है, वह यथार्थ नहीं है; इसलिए शैलीविज्ञान के विवेच्य विषय के संबंध में उनका मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता।

अतः शैलीविज्ञान सामान्य भाषिक शैली अथवा प्रायोगिक भाषिक शैली का नहीं, वरन् साहित्यिक शैली का ही अध्ययन प्रस्तुत करता है। किंतु, साहित्य के क्षेत्र में भी इसकी अपनी विशेष सीमा और स्तर है। जिस प्रकार शैली की अर्थ-व्याप्ति संपूर्ण साहित्य, अथवा साहित्य-कला अथवा साहित्यिक रूपविधान तक न होकर केवल उसके भाषिक स्तर तक ही है, इसी प्रकार शैलीविज्ञान का अधिकार-क्षेत्र भी साहित्य के भाषिक स्तर तक ही सीमित है। यह संपूर्ण साहित्य अथवा व्यापक अर्थ में साहित्य-कला तथा साहित्य के समग्र रूपविधान का अध्ययन प्रस्तुत करने का दावा चाहे करे, पर वास्तव में उतनी क्षमता इसमें नहीं है। इसलिए शैलीविज्ञान की सही परिभाषा—उसका सही अर्थ और क्षेत्र-विस्तार यही है कि वह (भाषाविज्ञान के नियमों तथा प्रविधि के अनुसार) साहित्य के भाषिक विधान का रूपात्मक अध्ययन है। इसी अर्थ में वह सैद्धांतिक स्तर पर भाषाविज्ञान और साहित्य-शास्त्र का, और व्यावहारिक स्तर पर भाषाविज्ञान तथा व्यावहारिक साहित्य-समीक्षा का संयोजक सेतु है।[1]

१. इन दोनों के बीच में सेतु-निर्माण आवश्यक है और शैलीविज्ञान ही ऐसा क्षेत्र है, जहाँ इसकी सबसे अधिक संभावना है। (ग्राहम हफ़)

शैलीविज्ञान की अध्ययन-प्रक्रिया

शैलीविज्ञान यदि साहित्यिक शैली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन है तो ज़ाहिर है कि उसकी अध्ययन-प्रक्रिया में भाषाशास्त्र के अंगों और उपकरणों का उपयोग होना चाहिए। भाषा के सामान्यतः चार उपकरण हैं : वर्ण, शब्द-रूप, वाक्य और अर्थ—इनके अतिरिक्त अब एक अन्य उपकरण को भी मान्यता प्राप्त हो गयी है और वह है संदर्भ[1] या महावाक्य । इन्हीं के आधार पर भाषाविज्ञान के भी चार अंग हैं : ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान और अर्थविज्ञान । ध्वनिविज्ञान के अध्ययन का विषय है वर्ण, रूपविज्ञान भाषिक रूपों—शब्दरूपों—आदि का अध्ययन करता है, वाक्यविज्ञान का संबंध वाक्य-रचना से है, और अर्थविज्ञान का अध्येय है भाषिक रूपों में निहित अर्थ । संदर्भ-भाषा, महावाक्य या वाक्यबंध के अध्ययन के लिए बृहत्तर[2] भाषाविज्ञान की प्रकल्पना की गयी है ।

काव्यशैली का सूक्ष्मतम उपकरण है वर्ण-विन्यास या वर्णमैत्री अर्थात् विभिन्न वर्गों के वर्णों का संयोजन-वियोजन । वर्ण-संगीत का मर्मज्ञ शैलीकार ध्वनियों के साम्य-वैषम्य के आधार पर उनका संयोजन कर अपनी रचना में अर्थ-ध्वनन की अतिरिक्त क्षमता उत्पन्न कर देता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अनुप्रास के विविध भेदों—छेकानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक के कतिपय रूपों, ओज, माधुर्य, प्रसाद गुणों और उन पर आश्रित परुषा, कोमला, प्रौढ़ा वृत्तियों का सौन्दर्य वर्णयोजना पर ही निर्भर करता है । वर्णमैत्री अथवा वर्णों के अंतःसंबंधों की यह व्याख्या व्याकरणशास्त्र के वर्णसंज्ञान प्रकरण और भाषाशास्त्र के अंगभूत ध्वनिविज्ञान के नियमों के आधार पर ही होती है । कवि अपनी अंतःप्रज्ञा के आधार पर इस प्रकार की योजनाएँ करता है और समीक्षक अपने भाषिक ज्ञान के आधार पर उनके मर्म का विश्लेषण करता है । आधुनिक भाषावैज्ञानिक का यह दावा है

१. डिस्कोर्स

२. मैक्रो-लिंग्विस्टिक्स

कि साहित्य-समीक्षक का यह विश्लेषण कच्चे भाषिक ज्ञान पर आधृत होने के कारण स्थिर वैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित नहीं रहा : शैली-विज्ञान विकसित भाषावैज्ञानिक प्रविधि-प्रक्रिया का उपयोग कर इसे प्रामाणिक अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

शैलीविज्ञान के पुरोधा छन्द-योजनाओं की भी ध्वनिविज्ञान के आधार पर व्याख्या करते हैं। उनका तर्क है कि छन्द की लयों का निर्माण स्वनिम-वर्गों के अंतःसंबंधों के आधार पर ही होता है। किंतु यह स्थापना एक सीमा तक ही मान्य है। इसमें संदेह नहीं कि मात्रा, स्वराघात, तुकांत, यति, आदि का संबंध स्वनिम-समुदाय के साथ ही है, लेकिन गति, जो छन्द का प्राणतत्त्व है, वर्णों या स्वनिम-समुदाय के केवल ध्वनिपरक संबंधों के आश्रित न होकर, सांगीतिक संबंधों पर भी निर्भर करती है। गति का संबंध वर्ण-संश्लेष द्वारा उत्पन्न अनु-रणन के साथ नहीं है—वरन् समस्त वर्णविन्यास में व्याप्त स्वर के संकोच-प्रसार तथा आरोह-अवरोह आदि के साथ है। इसीलिए भार-तीय वाङ्मय में छन्दःशास्त्र को, व्याकरण से प्रभावित होने पर भी, व्याकरण से स्वतंत्र शास्त्र माना गया है। छन्द वर्णों के विन्यास-क्रम से आगे मात्रा-माप की भी अपेक्षा करता है। निम्नोक्त छन्द के वर्ण-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाएगा।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम्
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

उपर्युक्त उदाहरण में 'म्' का नाद-सौन्दर्य आरंभ से अंत तक व्याप्त है। इसके अतिरिक्त प्रथम चरण में ल् और क् की आवृत्ति, द्वितीय में र्, न्, म् की, तृतीय में प् की और चतुर्थ में स् की आवृत्ति श्रुत्यनु-प्रास और वृत्त्यनुप्रास के योग से अपूर्व वर्ण-चमत्कार की सृष्टि करती है। यह सब तो निश्चय ही भाषिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आयेगा। किंतु शिखरिणी छन्द की लय-माधुरी इससे पृथक् है, उसका आधार वर्ण-योजना न होकर स्वर-लहरी है जो विविध प्रकार से आरोह-अव-रोह तथा संकोच-प्रसार करती हुई समस्त चरण में व्याप्त है।

वर्ण के उपरान्त शैली का दूसरा अवयव है पद। पद के लिए हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं में सामान्यतः अंगरेज़ी 'वर्ड' के

पर्याय 'शब्द' का प्रयोग होता है। पद का निर्माण प्रकृति और प्रत्यय के योग से होता है और उसके दो रूप होते हैं : सुबन्त एवं तिङन्त। सुबन्त के अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि की गणना होती है तिङन्त वर्ग में क्रियापदों की। यह समस्त प्रपंच रूपविज्ञान के अन्तर्गत आता है। काव्य-शैली में शब्द-रूपों का विशिष्ट प्रयोग होता है और इस वैशिष्ट्य का आधार है विपथन अर्थात् सामान्य प्रयोग से भिन्न तथा प्रसंग के अनुरूप कलात्मक चयन। कुंतक ने पदपूर्वार्ध-वक्रता तथा पदपरार्ध-वक्रता के प्रकरण में शब्द-रूपों अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियापद, कारक, वचन, लिंग आदि के वक्र प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार का अत्यंत मार्मिक विश्लेषण किया है। आधुनिक शब्द-विज्ञान के आलोक में भाषाविद् आलोचक शब्द-रूपों के विशिष्ट प्रयोगों और तज्जन्य चमत्कार का अपने ढंग से विवेचन करता है। संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञों में कालिदास द्वारा शिव के दो पर्याय-रूपों— 'कपाली' और 'पिनाकी' के विदग्ध प्रयोग की काफ़ी चर्चा रही है :

(१) **द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।**
कला च सा कांतिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

(कु० सं० ५।७१)

प्रार्थिनी बनकर समागम की कपाली के
दो ही हुईं शोचनीय अखिल भुवन में;
एक वह कान्तिमयी कला कलाधार की
दूसरी तुम आज नेत्रकौमुदी जगत् की।

(२) **कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।**
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥

(अ० शा० १।६)

लख कर सायर अरु तुम्हें कर सायक सर-चाप।
देखत हूँ खेदत मनो मृगहिं पिनाकी आप ॥

'गण' की दृष्टि से 'कपाली' और 'पिनाकी' दोनों में कोई अंतर नहीं है, अतः बिना किसी कठिनाई के पहले छन्द में 'पिनाकी' का और दूसरे में 'कपाली' शब्द-रूप का प्रयोग हो सकता है। इस स्थानान्तरण से न छन्द में अंतर आएगा और न अर्थ-बोध में। किंतु शब्दविज्ञान का मर्मज्ञ तत्काल ही ताड़ लेगा कि अर्थ-भेद न होने पर भी अनुप-युक्त शब्द-रूप के प्रयोग से सौन्दर्य बाधित हो गया है। पहले छन्द में

शिव के बीभत्स रूप की व्यंजना अभीष्ट है जो 'कपाली' (कपालधारी) शब्द के द्वारा ही संभव है और दूसरे में धनुर्धर रूप की, जिसके लिए 'पिनाकी' (पिनाकधारी) शब्द ही उपयुक्त है। व्युत्पत्ति पर आश्रित होने के कारण यह सौन्दर्य अर्थगत न होकर रूपगत ही है।

पर्याय, विशेषण आदि के अतिरिक्त लिंग, वचन, कारक आदि के भेद से परिवर्तित शब्द-रूपों का प्रयोग-चमत्कार भी इसी कोटि में आता है।

लिंग : मिल्टन के प्रतिद्वन्द्वी बंग-कवि !
मेघनादवध का वह दुर्धर नद-प्रवाह !
आप्लावित कर रहा राष्ट्र-भारती को।

यहाँ 'नदी-प्रवाह' का प्रयोग भी आसानी से हो सकता था किंतु इससे भाषा की शक्ति का ह्रास हो जाता।

वचन : हम पूछत जातिहिं पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।

यहाँ 'मैं पूछत जातिहिं पाँति मरौ' कर देने से भी छन्द में और सामान्य अर्थ में भी कोई अंतर नहीं आता। किंतु बहुवचनांत 'हम' सर्वनाम के द्वारा दुष्यंत, मधुकर की अंतरंगता की अपेक्षा में, अपनी तटस्थता या अपरिचयजन्य दूरी की जो व्यंजना करना चाहता है वह बाधित हो जाती। एकवचन में एकता या निकटता की और इसके विपरीत बहुवचन में अनेकता—'हम जैसे अनेक हैं' की व्यंजना निहित है।

कारक—(i) **हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त।**
(ii) **राम ने उठाया[1] कर लेने को नील कमल।**

उपर्युक्त दो पंक्तियों में क्रिया एक ही है, किंतु कारक-भेद के कारण रूपात्मक परिवर्तन हो जाने से व्यंग्यार्थ और उसके आश्रय से चमत्कार में अंतर आ गया है। दूसरा वाक्य-रूप सामान्य है : 'राम ने हाथ उठाया'—जिसमें सामान्य व्यवहार के अनुसार अंगभूत हाथ का 'कर्म' कारक में प्रयोग हुआ है, जबकि पहले वाक्य में 'हाथ' कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ कारक रूप का यह विपथन राम के आवेश को व्यंजित करने के लिए हुआ है, अतः इसमें विशेष चमत्कार आ गया है।

१. मूल पाठ 'बढ़ाया'

पद के बाद पद-संघटना या पद-रचना का प्रश्न आता है जहाँ समास आदि के द्वारा अनेक पदों के संश्लेष अथवा अंत:संबंधों की योजना की जाती है। यह पद-बंध या शब्द-विन्यास-क्रम भी काव्य-शैली का अंग है। कुशल कवि अपनी नैसर्गिक प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द-विन्यास-क्रम में भी अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। प्राचीन आचार्यों ने वृत्ति तथा रीति आदि के प्रकरण में शब्द-विन्यास-क्रम के सौन्दर्य का विश्लेषण किया है। आधुनिक शैली-वैज्ञानिक रूपविज्ञान और शब्दविज्ञान के आलोक में यह कार्य सम्पन्न करता है। निम्नोक्त उदाहरण का विश्लेषण इस तथ्य को स्पष्ट कर सकेगा—

विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य बाण,
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम—विश्वजिद्दिव्य-शर-भंग-भाव,—
विद्धांग—बद्ध-कोदंड-मुष्टि—खर-रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-बल,—
मूर्च्छित-सुग्रीवांगद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,—
वारित-सौमित्रि-भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतु:प्रहर,—
जानकी-भीरु-उर—आशाभर,—रावण-सम्वर।

यहाँ, 'राम-रावण के अपराजेय समर' की सघनता—घमासान युद्ध—की सशक्त व्यंजना करना कवि का उद्देश्य है, जिसकी सिद्धि के लिए उसने अत्यंत कौशलपूर्वक क्रियापदों का त्याग कर, अथवा तिङन्त के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रयोग कर, विभक्ति का लोप करते हुए दीर्घ समासों के संश्लेष द्वारा भाषा में गाढ़बन्धत्व की सृष्टि की है। घमासान युद्ध के वर्णन के लिए सघन भाषा की आवश्यकता स्वत:स्पष्ट है। गाढ़बन्धत्व का चमत्कार अर्थ के आश्रित न होकर रूप-विधान के ही आश्रित है, अत: इसके विश्लेषण के लिए अर्थविज्ञान की अपेक्षा रूपविज्ञान का आश्रय लेना अधिक उपयोगी होगा।

पद के अतिरिक्त शैली का प्रमुख उपकरण है वाक्य जिसे भाषा

की मूल इकाई माना गया है। भाषाविज्ञान में वाक्य का अध्ययन वाक्य-विचार या वाक्य-विज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है। अध्ययन के प्रमुख आधार हैं—वाक्यांगों का क्रम-विपर्यय, समानान्तर प्रयोग, आवृत्ति, सम-बंध, विषम-बंध आदि। वाक्य के दो मूल भाग हैं : उद्देश्य और विधेय। उद्देश्य में कर्त्ता और उसके विस्तार-रूपों और विधेय में क्रिया तथा उसके विस्तार-रूपों का अंतर्भाव रहता है। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति के अनुरूप उद्देश्य और उद्देश्य के विस्तार-रूपों, उद्देश्य तथा विधेय, और विधेय तथा उसके विस्तार-रूपों के सह-प्रयोग का क्रम सामान्यतः निश्चित रहता है। कवि-कलाकार प्रसंग के अनुकूल इसमें परिवर्तन कर चमत्कार उत्पन्न करता है, और इसके पीछे उसकी निरंकुशता न होकर एक व्यक्त या अव्यक्त कलात्मक प्रयोजन रहता है। कर्ता और क्रिया के प्रयोग-क्रम का विपर्यय, कर्ता के विभिन्न रूपों—संज्ञा, सर्वनाम, धातुनाम आदि का विशेष प्रयोग, कर्ता के विस्तार-रूपों—विशेषण, पूरक आदि के प्रयोग-क्रम का परिवर्तन, क्रिया के विस्तार-रूपों—क्रियाविशेषण तथा उसके साधक कर्म, करण, संप्रदान, अपादान आदि कारकों के 'प्रसिद्ध प्रबंध' का व्यतिक्रम वाक्य-रचना में सौन्दर्य का आधान करता है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने 'संदर्भगत[1] संबंध-विधान' और 'संरचनागत[2] संबंध-विधान' के अंतर्गत इन प्रयोग-रूपों का विवेचन किया है। वाक्य-रचना के प्रसंग में शैलीवैज्ञानिकों ने कुछ अन्य तत्त्वों का भी उल्लेख किया है। इनमें प्रमुख हैं—सम-बंध, जहाँ वाक्य के दो अथवा दो से अधिक अंगों में समान शब्दों अथवा वाक्यांशों का समानान्तर प्रयोग रहता है; विषम-बंध, जहाँ दो या दो से अधिक वाक्यांगों में विपरीतार्थक शब्दों के बीच एक प्रकार का तनाव-सा रहता है; आवृत्ति, जहाँ एक शब्द या शब्द-बंध का दो या दो से अधिक बार सह-प्रयोग रहता है, आदि। पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र में इन वाक्यगत अलंकारों का एक पृथक् वर्ग ही है। आधुनिक शैलीवैज्ञानिक विपथन अर्थात् वाक्यांगों के मानक क्रम तथा संबंधों के विपर्यय पर अधिक बल देते हैं, किंतु विपथन के अलावा चयन, क्रमबंधन आदि का भी महत्त्व कम नहीं है। उदाहरण के लिए,

१. पैराडिग्मेटिक रिलेशन्स

२. सिण्टाडिग्मेटिक रिलेशन्स

स्वभाव-वर्णन में विपथन के लिए अधिक अवकाश नहीं है। उसका तो संपूर्ण सौंदर्य उपयुक्त चयन और क्रम-विन्यास पर निर्भर करता है। वास्तव में, शैलीविज्ञान का उद्गम और विकास ऐसे युग में हुआ है जिसमें तर्क और विवेक का निषेध ही काव्य का मूल गुण माना जाता है—जबकि नया कवि अपनी रचना में वाक्यांगों के अतर्कित संबंध-विधान को ही भाषिक कला की प्रमुख उपलब्धि मान रहा है। लेकिन यह प्रवृत्ति अधिक स्थायी नहीं रह सकती क्योंकि विवेक से एकांत मुक्ति न विचार के क्षेत्र में संभव है न भाषा के। पाश्चात्य साहित्य में भाषाविद् समीक्षकों का काफ़ी ध्यान नये लेखकों के अतर्कित वाक्य-विन्यास की उलझनों को सुलझाने में लगा रहता है। फिर भी, अनेक स्थिरमति समीक्षक कालजयी कृतियों के वाक्य-विन्यास आदि का विश्लेषण भाषाशास्त्रीय वाक्य-विज्ञान के आलोक में कर रहे हैं। वाक्य-विज्ञान का यह उचित उपयोग ही काव्य के अध्ययन में उपयोगी हो सकता है: इसके द्वारा एक नये ढंग से सौन्दर्य-रहस्यों की विवृति हो सकती है और हो रही है।

भाषाविज्ञान की चौथी प्रमुख शाखा या अंग है अर्थविज्ञान। यद्यपि कुछ कट्टर लोग उसे भाषा के क्षेत्र से बाहर मनोविज्ञान के वृत्त में धकेलना चाहते थे, फिर भी भाषाविज्ञान में उसका महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है क्योंकि अर्थ के बिना भाषा निष्प्राण रह जाती है। अर्थ की व्याप्ति पद, वाक्य तथा महावाक्य में तो है ही, वर्ण-योजना में भी व्यंजना से अर्थ का सद्भाव रहता है। इस तरह अर्थविज्ञान का क्षेत्र भाषाविज्ञान के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अर्थ-विचार की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। भारत में यह यास्क से प्रारंभ होकर पतंजलि तथा भर्तृहरि आदि मेधावी वैयाकरणों और उधर कुमारिल भट्ट, प्रभाकर गुरु आदि दार्शनिकों के गंभीर चिंतन के द्वारा विकसित हुई है। यूरोप में इसका आरंभ प्लेटो से हो जाता है। आधुनिक युग में काव्यभाषा के संदर्भ में आई० ए० रिचर्ड्स ने अपने मनोवैज्ञानिक पांडित्य के आधार पर इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके अनुसार अर्थ के चार भेद हैं: संकेतार्थ या अभिधार्थ, भाव या भावार्थ, काक्वाक्षिप्त अर्थ और अभिप्राय या उद्दिष्ट अर्थ।[१] एक अन्य स्थान

१. सेंस, फ़ीलिंग, टोन और इंटेंशन।

पर उन्होंने अर्थ के दो व्यापक भेद किए हैं : संकेतित अर्थ और रागात्मक अर्थ। इस वर्गीकरण की आलोचना भी काफ़ी हुई है। उलमान का कहना है कि इस तथाकथित रागात्मक अर्थ के अनेक रूप ऐसे हैं जिनका मनोराग के साथ कोई संबंध नहीं है। इसलिए इसके स्थान पर उन्होंने लक्ष्यार्थ या संपृक्तार्थ[1] शब्द को अधिक उपयुक्त माना है। वास्तव में यूरोपीय भाषाओं में व्याकरण की परंपरा उतनी पुष्ट और व्यवस्थित नहीं रही जितनी कि संस्कृत में; और निश्चित परंपरा के अभाव में वहाँ के विद्वान् अलग-अलग ढंग से संबद्ध विषय का विवेचन करते रहे हैं। अर्थ-विचार के संदर्भ में भी यही स्थिति है। व्याकरण से अनुमोदित भारतीय काव्यशास्त्र में अर्थ की अत्यंत सूक्ष्म एवं तात्त्विक व्याख्या हुई है जो पश्चिम के भाषाविज्ञान अथवा उसके उपजीव्य शैलीविज्ञान की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है। यहाँ अर्थ के तीन भेद माने गए हैं : (१) अभिधार्थ या वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ, और (३) व्यंग्यार्थ। रिचर्ड्स के अंतिम तीनों अर्थों—भावार्थ, काक्वाक्षिप्त अर्थ और उद्दिष्ट अर्थ—का अन्तर्भाव व्यंग्यार्थ में हो जाता है। व्यापक रूप में रिचर्ड्स ने जिसे 'रागात्मक अर्थ' कहा है उसकी अपेक्षा 'लक्ष्यार्थ' शब्द निश्चय ही अधिक संगत है। यद्यपि संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार भाव की उद्बुद्धि लक्षणा की परवर्ती शब्दशक्ति व्यंजना का व्यापार है, फिर भी लक्ष्यार्थ में भाव-व्यंजना की शक्ति विद्यमान रहती है, इस तथ्य का अत्यंत प्रामाणिक रूप से विवेचन किया गया है। आधुनिक भाषाविज्ञान लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की पृथक् सत्ता मानने के पक्ष में नहीं है। किंतु संस्कृत-आचार्य का तर्क यह है कि इन दोनों का एकत्व मान लेने से ऐसे प्रसंगों में कठिनाई उपस्थित हो जायेगी जहाँ अभिधार्थ का किसी अन्य अर्थ में संक्रमण नहीं होता वरन् सीधे ही उससे भाव या अभिप्राय रूप व्यंग्यार्थ की उद्बुद्धि होती है। ध्वनि-सिद्धांत के अन्तर्गत अभिधामूलक ध्वनि में इसी प्रकार के व्यंग्यार्थ-रूपों का विवेचन हुआ है जिनमें सर्वप्रमुख हैं रस, भाव आदि। संस्कृत में भवभूति तथा हिन्दी में तुलसीदास, मैथिलीशरण, आदि के काव्य में रस-व्यंजना प्रायः अभिधा से ही होती है। एक उदाहरण लीजिए :

१. कनोटेशन

मेरो सब पुरुसारथ थाको

बिपति-बिदारन बंधु-बाहु बिन करौं भरोसे काको।

× × ×

गिरि-कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज संघाती

ह्वै है कहा बिभीसन की गति समुझ सोच भरि छाती !

उपर्युक्त पद में 'थाको', 'बिदारन', 'बाहु', 'साखामृग' आदि पदों में अर्थ की सिद्धि लक्षणा से अवश्य होती है किंतु समस्त पद द्वारा अभिव्यक्त भाव-सौन्दर्य इन पर बिल्कुल निर्भर नहीं करता क्योंकि इन प्रयोगों का लक्ष्यार्थ रूढ़ बनकर प्रायः चमत्कारहीन हो गया है। नये समीक्षक को इस प्रकार के भाव-सौन्दर्य को समझने में कठिनाई हो सकती है। वह अपनी अशिष्ट भाषा में इसे सपाटबयानी कह सकता है, परंतु नयी समीक्षा की विडम्बना भी यही है।

वास्तव में अर्थविज्ञान, जो मनोविज्ञान और भाषाविज्ञान के बीच का सबसे सुदृढ़ सेतु है, काव्य-समीक्षा का अत्यंत प्रभावी साधन रहा है और है। अर्थ की रमणीयता किस प्रकार शब्द को और शब्द की रमणीयता किस प्रकार अर्थ को रमणीयता प्रदान करती है, इस मर्म का प्रकाशन अर्थविज्ञान ही करता है।

इस प्रकार, शैलीविज्ञान भाषाशास्त्र के विविध अंगों की शब्दावली का उपयोग करता हुआ काव्य के अध्ययन की नई प्रविधि-प्रक्रिया का उद्घाटन कर रहा है। काव्य-शैली के सभी घटकों के लिए उसके पास भाषाविज्ञान के विकसित साधन हैं : वर्ण-विन्यास के लिए ध्वनिविज्ञान, शब्द-रूपों तथा अन्य भाषिक रूपों के लिए रूपविज्ञान, वाक्य-रचना के लिए वाक्यविज्ञान और इन सबमें व्याप्त अर्थ के अध्ययन के लिए अर्थविज्ञान की तकनीकी प्रणालियाँ उसे सहज सुलभ हैं।

शैलीविज्ञान तथा अन्य शास्त्र

शैलीविज्ञान तथा साहित्यशास्त्र

शैलीविज्ञान का साहित्यशास्त्र से ऋौरस संबंध है : दोनों की प्रकृति समान है, परन्तु गुण ऋौर क्षमता में भेद है। साहित्यशास्त्र सम्पूर्ण साहित्य—ऋर्थात् साहित्य के समस्त पक्षों, ऋंगों ऋौर रूपों का विवेचन करने में समर्थ है, किंतु शैलीविज्ञान साहित्य के भाषिक विधान से ऋागे नहीं जाता। भाषाविद् ऋालोचकों के दावों के बावजूद साहित्य में ऋनेक महत्त्वपूर्ण भाषेतर तत्त्व हैं। उदाहरण के लिए, नाटक में मूक दृश्यों का ऋपना उपयोग है जो विशेष परिस्थितियों में मुखर दृश्यों की ऋपेक्षा ऋधिक व्यंजक होते हैं। प्राचीन तथा नवीन काव्य में मौन का प्रयोग होता रहा है—कथा-साहित्य में मौन की प्रसंग के अनुकूल व्यंजना कहीं ऋधिक प्रभावी होती है। यहाँ भाषा का एकांत ऋभाव है, पर साहित्य एवं कला-तत्त्व तो निश्चय ही विद्यमान है। साहित्यशास्त्र इसका विवेचन कर सकता है किंतु शैलीविज्ञान की परिधि से यह बाहर है। भाषा की इन सीमाऋों के कारण ही पाश्चात्य विचारकों को शैलीविज्ञान से ऋागे लक्षणविज्ञान की उद्भावना करनी पड़ी है।

यह तो एक चरम उदाहरण हुऋा। साहित्य के विधान में ऐसे ऋनेक जीवंत तत्त्व हैं जिनका विवेचन भाषा के ऋाधार पर नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण भाव-सम्पदा जिसके द्वारा साहित्य में रागात्मक ऋाकर्षण की सृष्टि होती है ऋौर प्रमाता कृति के साथ तन्मयता तथा कृतिकार के साथ तादात्म्य का ऋनुभव करता है, विचार-गरिमा जो साहित्य को स्थायी मूल्यवत्ता प्रदान करती है, सर्जक कल्पना जो नव-रूपों की सृष्टि ऋौर उनका समन्वय कर कलाकार के ऋभिप्राय को ऋाकार देती है, घटनाऋों का संयोजन ऋौर उनके द्वारा जीवन के पुनर्निर्माण की भावना, मानव-प्रकृति के गंभीर रहस्यों को प्रतिफलित करने वाला चरित्र-विधान, सामाजिक परिवेश के साथ साहित्य की क्रिया-प्रतिक्रिया ऋादि—इन सबकी ऋभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है, परन्तु इनके मर्म को समझने के लिए भाषा से बाहर जाना ऋावश्यक है।

साहित्य अपनी प्रेरणा और परिणति दोनों में ही जीवन की अभिव्यक्ति है। यह ठीक है कि जीवन का व्यापार काफ़ी हद तक भाषा के माध्यम से चलता है, परन्तु उसका एक अत्यंत कोमल, गंभीर और उदात्त अंश ऐसा है, जो भाषातीत है। साहित्य में यह अंश भी प्रतिफलित होकर साहित्य को समृद्धि एवं गरिमा प्रदान करता है। ज़ाहिर है कि इस भाषातीत जीवन का अवगाहन भाषिक विश्लेषण मात्र से संभव नहीं है। इसके लिए समानुभूति या संवेदना की अपेक्षा है। अतः सम्पूर्ण साहित्य को अपनी परिधि में समेटने वाला साहित्यशास्त्र ही इसका आख्यान कर सकता है जिसमें भाषिक अभिव्यंजना के अतिरिक्त विषय-तत्त्व, रूपविधान आदि के विवेचन के लिए पूरा प्रावधान है। भाषाविद् यहाँ यह तर्क दे सकता है कि जिसे हम भाव और विचार कहते हैं, वह भी तो निर्घोष भाषिक विधान ही है। यह तर्क भी एक सीमा तक ही ग्राह्य है : भाव के अभिव्यक्ति पक्ष के लिए तो यह ठीक है किंतु सम्पूर्ण अनुभूति को निर्घोष भाषा मान लेना तो ठीक नहीं होगा।—और, फिर भाषाविज्ञान की परिधि तो सघोष भाषा तक ही सीमित है। भारतीय व्याकरण भी केवल वैखरी को ही अपनी सीमा मानता है।

साहित्यशास्त्र का प्रायोगिक रूप है साहित्य-समीक्षा, जिस अर्थ में कि शैलीविज्ञान का प्रायोगिक रूप है शैलीविवेचन या शैलीतात्त्विक अध्ययन। स्वभावतः इन दोनों का अंतःसंबंध भी वही है जो साहित्य-शास्त्र और शैलीविज्ञान का है : अर्थात् शैलीतात्त्विक अध्ययन साहित्य-समीक्षा का एक अंग या पक्ष है। साहित्य-समीक्षा में जहाँ साहित्य अथवा साहित्य-कृति के समग्र रूप का अध्ययन रहता है, वहाँ शैली-विवेचन कृति के मूर्त, भाषिक रूप को ही कृति मानकर उससे आगे नहीं जाता। साहित्य-समीक्षा के सामान्यतः तीन स्तर माने जाते हैं : १. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्यान-विश्लेषण, ३. मूल्यांकन। प्रभाव-ग्रहण का अर्थ है साहित्य-कृति के प्रति संवेदन, तथा उसके विषय में अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया, जो समीक्षक की पहली अर्हता है, जिसके बिना वह अपने कर्तव्य-कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। संस्कृत साहित्यशास्त्र में इसे सहृदयता और पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में संवेदन-शक्ति कहा है। यह वस्तुतः काव्य के आस्वाद का स्तर है और इस स्तर पर आलोचक मूलतः सहृदय पाठक से अभिन्न होता है। इसके बाद

व्याख्यान-विश्लेषण की प्रक्रिया आरंभ होता है जो आलोचक की अपनी विशिष्ट भूमिका है। यह व्याख्यान-विश्लेषण विभिन्न स्तरों पर हो सकता है: शब्द-अर्थ के आकर्षण का भाषिक स्तर पर, रागात्मक प्रभाव का मनोवैज्ञानिक स्तर पर, वैचारिक गरिमा का दार्शनिक-नैतिक स्तर पर, सामाजिक चेतना का समाजशास्त्रीय और रूप-विधान का सौंदर्यशास्त्रीय स्तर पर। कलाकृति के समेकित रूप और उसकी प्रेरक अनुभूति की अखण्डता के कारण इन सभी घटकों में अंत:संबंध एवं सामञ्जस्य रहता है, अत: इनके व्याख्यान-विश्लेषण के सूत्र भी सामान्यत: एक मौलिक अन्विति में बंधे रहते हैं और रहने चाहिए अन्यथा आलोचना एकांगी होकर रह जाएगी। भाषाविद् आलोचक भाषिक विश्लेषण को ही साहित्यिक अध्ययन के अंतर्गत मानता है। अन्य तत्त्वों के विवेचन को वह मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा समाजशास्त्रीय अध्ययन के अंतर्गत रखता है। याकोबसन ने तो साहित्य-समीक्षा को भी साहित्यिक अध्ययन से अलग रखने का प्रस्ताव किया है। परन्तु ये सभी अतिवादी विचार हैं जो समय आने पर स्थिर हो जाएँगे। प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य-समीक्षा का वृत्त केवल भाषिक विश्लेषण से पूरा नहीं हो सकता—भाषिक विश्लेषण उसका एक अंग या स्तर मात्र है। हाँ, यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय विवेचन को साहित्य-समीक्षा के अंतर्गत तभी रखा जा सकता है जब वह अंगभूत साधन बनकर साहित्य-तत्त्व के विवेचन में सहायक हो—और साफ़ शब्दों में, साहित्य के रसात्मक एवं कलात्मक बोध में योगदान करे। जहाँ वह साध्य बन जाता है, जब मनोविज्ञान, दर्शन या समाजशास्त्र का अनुसंधाता साहित्य को अपने शोध-कार्य का आधार बनाकर चलता है (और ऐसा बराबर होता आ रहा है,—कहीं-कहीं तो इन विषयों में अनुसंधान का एकमात्र या प्रमुख आधार साहित्य ही रहता है) तब यह विवेचन निश्चय ही साहित्य-समीक्षा की परिधि से बाहर हो जाता है। साहित्य-समीक्षा में इसका उपयोग तो हो सकता है, पर यह उसका अंग नहीं है—आधार-सामग्री मात्र है। लेकिन यह तो साहित्य के भाषिक विवेचन के संदर्भ में भी उतना ही सही है। जब तक भाषिक विश्लेषण साहित्य के मर्म-बोध में योग-दान करता है, तब तक तो वह साहित्य-समीक्षा या साहित्यिक अध्ययन

के अंतर्गत रहता है, किंतु स्वतंत्र हो जाने पर वह भी भाषावैज्ञानिक अध्ययन का अंग बन जाता है। रोमन याकोबसन और लेवी स्ट्रॉस द्वारा प्रस्तुत बॉदलेयर की सॉनेट 'ले शा' का विश्लेषण इसका प्रमाण है। प्रसिद्ध आलोचक रैने वैलेक के शब्दों में "जिस सूझबूझ और निपुणता के साथ रोमन याकोबसन और लेवी स्ट्रॉस ने बॉदलेयर की सॉनेट 'ले शा' का विश्लेषण किया है, उसकी मैं दाद देता हूँ। उन्होंने प्रामाणिक ढंग से समानान्तर सूत्रों, संवादी तत्त्वों तथा वैषम्य-मूलक प्रयोगों का उद्घाटन तो कर दिया है, लेकिन मुझे नहीं लगता कि उस कविता के सौन्दर्य-मूल्य के विषय में वे कुछ भी सिद्ध कर सके हैं या कर सकते थे।"[1]

साहित्य-समीक्षा का तीसरा स्तर या अंग है मूल्यांकन। इसके विषय में काफ़ी विवाद रहा है। व्याख्यात्मक अथवा अनुगम शैली[2] की आलोचना के उन्नायक वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध से ही कहते आ रहे हैं कि साहित्य-समीक्षा में मूल्यांकन की कोई सार्थकता नहीं है। इसी वर्ग के एक आलोचक ने बड़े तेवर के साथ कहा था कि एक कलाकृति और दूसरी के तारतम्य का निश्चय करना उतना ही बेमानी है जितना कि समबाहु त्रिभुज और समद्विबाहु त्रिभुज की सापेक्षिक मूल्यवत्ता के विषय में निर्णय देना। आज शैलीवैज्ञानिक और नये भाषाविद् समीक्षक ने तो मूल्यांकन की प्रवृत्ति को एकदम ही ख़ारिज कर दिया है। सॉल सपोर्ता के मतानुसार 'मूल्य', 'कलात्मक प्रयोजन' आदि शब्द जो साहित्य-समीक्षा के अनिवार्य अंग हैं भाषाविद् को उपलब्ध नहीं हैं।[3]—नर्थप फ़्राइ की स्पष्ट घोषणा है कि 'साहित्य का अध्ययन मूल्यात्मक निर्णयों के आधार पर कभी नहीं हो सकता।"[4] किंतु इस प्रकार के वक्तव्यों में सत्यान्वेषण की स्थिर वृत्ति की अपेक्षा अतर्क्य आत्मविश्वास और संकल्प की दृढ़ता ही अधिक रहती है, क्योंकि किसी भी विचार-प्रक्रिया में न निर्णय का त्याग किया जा सकता है और न मूल्य-विवेक

१. शैलीविज्ञान, साहित्यशास्त्र और साहित्य-समीक्षा—लिटरेरी स्टाइल (सं० चैटमैन), पृ० ७३
२. इन्डक्टिव।
३. स्टाइल इन लैंग्वेज, सं० सिबिओक, पृ० ८३
४. एनॉटमी ऑफ़ क्रिटिसिज़्म १९५७, पृ० २०

का। निर्णय विचार की परिणति है, मूल्य उसकी फलश्रुति, और इन दोनों के बिना विचार का वृत्त पूरा नहीं हो सकता। जो निर्णय और मूल्यांकन का ऊँची आवाज़ से निषेध करते हैं, वे भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से इनका उपयोग करते हैं। नर्थप फ्राइ स्वयं इसका प्रमाण हैं। उपर्युक्त दावा करने के बावजूद अपने उसी ग्रंथ—'एनॉटमी ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में उन्हें स्वीकार करना पड़ा है कि "ब्लैकमोर की अपेक्षा मिल्टन के काव्य में अर्थ-व्यंजना अधिक है और उसका अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद है।" या "अरिस्तोफनेस का 'बर्ड्स' उसका सबसे महान नाटक है।"[1] यह ठीक है कि प्रायः सभी निर्णय तथा मूल्य-निरपेक्ष न होकर संदर्भ और व्यक्ति-सापेक्ष होते हैं, पर इस वजह से उनका निषेध तो नहीं होता। और यह भी एक सीमा तक ही मान्य है; कुछ ऐसे भी निर्णय होते हैं जो व्यापक और स्थायी होते हैं, देश-देश का और युग-युग का समर्थन प्राप्त होने के कारण जो देश-काल की सीमा से मुक्त होकर निरपेक्ष सत्यों और मूल्यों का रूप धारण कर लेते हैं। सापेक्षतावाद आदि सिद्धांतों से प्रभावित वर्तमान भौतिक चिंतन अक्सर इस प्रकार की मान्यता का विरोध करता है, किंतु मानव-समाज पूरे विश्वास से इन्हें पकड़ हुए है, और अपने जीवन-प्रवाह में इनसे स्थिरता प्राप्त करता है। साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रकार के स्थायी मूल्यों का महत्त्व असंदिग्ध है : साहित्य और कला के कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो, मानव-मूल्यों से सम्बद्ध होने के कारण, सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं, जिनके द्वारा आलोचक कालजयी साहित्य का निर्णय करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि निर्णय और मूल्यांकन का निषेध न जीवन में संभव है और न उसके प्रतिबिम्ब-रूप साहित्य में। प्रत्येक साहित्य-कृति का अपना एक आंतरिक मूल्य होता है और एक व्यापक मूल्य : आंतरिक मूल्य का निर्णय रचना-तत्त्वों की समन्विति तथा उसके मूलवर्ती कलात्मक प्रयोजन के संदर्भ में किया जाता है और व्यापक मूल्य का निर्णय जीवन के बृहत्तर मूल्यों के संदर्भ में। नयी समीक्षा में आंतरिक मूल्य की स्वीकृति तो है किंतु व्यापक मूल्य को

१. देखिए—रैने वलेक का लेख : शैलीविज्ञान, साहित्यशास्त्र और साहित्य-समीक्षा (चैटमैन)।

वह अप्रासंगिक मानती है। शैलीविज्ञान एक क़दम और आगे बढ़ जाता है, उसके लिए आंतरिक मूल्य भी अप्रासंगिक हो जाता है क्योंकि सपोर्ता के शब्दों में उसे 'कलात्मक प्रयोजन' जैसा प्रत्यय ही उपलब्ध नहीं है। साथ ही, वह यह मानकर चलता है कि सहज अंतर्दृष्टि का उसके लिए उपयोग नहीं है : उसका कार्य तो कृति के भाषिक विधान का निरीक्षण-परीक्षण मात्र करना है। किंतु, यह सब अतिवाद मात्र है। पहले तो विश्लेष्य रचना के चयन में ही प्रायः शैलीविवेचक उसके मूल्य का अप्रत्यक्ष रूप से निर्णय कर लेता है और फिर सहज अंतर्दृष्टि उसके लिए भी इतनी ही उपयोगी है जितनी कि आलोचक के लिए। वास्तव में, यह कोई दैवी शक्ति नहीं है—यह तो एक ऐसी क्षमता है जो साहित्य की निरंतर साधना से, नैसर्गिक प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के आधार पर, प्रच्छन्न रूप से विकसित हो जाती है और विज्ञान के क्षेत्र में भी यह उतनी ही आवश्यक है जितनी कि कला या दर्शन के। फिर भी, यदि वह आरंभ से ही इस विषय में सतर्क है, कृति का चयन यादृच्छिक रीति से ही करता है, सहज बुद्धि को बीच में नहीं आने देता और केवल भाषिक विधान का वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण कर अपने कर्तव्य-कर्म की इतिश्री मान लेता है, तो उसका यह विश्लेषण भाषिक अध्ययन के अन्तर्गत ही आएगा—साथ ही यह भी हो सकता है कि यह भाषिक विश्लेषण मर्म-दृष्टि के अभाव में यांत्रिक होकर रह जाए। साहित्य के भाषिक अध्ययन या शैलीतात्त्विक अध्ययन की सार्थकता तो इसी में है कि वह एक नवीन—भाषावैज्ञानिक—प्रविधि-प्रक्रिया के द्वारा साहित्य के गुणों का प्रकाशन करता है या अपनी नवीन प्रविधि के द्वारा साहित्य के ऐसे गुणों का संधान करता है जो परम्परागत साहित्य-समीक्षा के लिए अलभ्य थे। निर्गुण रहकर ही वह मूल्य-विवेक से बच सकता है; किंतु साहित्य या कला की साधना तो सगुण की—शब्द-मूर्त सौन्दर्य—की उपासना है।

इस प्रकार, शैलीविज्ञान की परिधि साहित्य-समीक्षा के तीन स्तरों—प्रभाव-ग्रहण, व्याख्यान-विश्लेषण तथा मूल्यांकन—में से केवल दूसरे स्तर अर्थात् व्याख्यान-विश्लेषण तक ही सीमित है, और व्याख्यान-विश्लेषण के अन्तर्गत भी उसका संबंध केवल भाषिक विश्लेषण के साथ ही है। अपनी परिधि के भीतर वह अत्यंत परिपूर्ण होने का प्रयत्न करता है, फिर भी एक अंग की अधिक-से-अधिक परिपूर्णता

सर्वांग के संतुलित अध्ययन की समता कैसे कर सकती है ?

शैलीविज्ञान और भाषाविज्ञान

शैलीविज्ञान का भाषाविज्ञान के साथ भी उतना ही घनिष्ठ संबंध है जितना साहित्यशास्त्र और साहित्य-समीक्षा के साथ। जैसा कि मैंने आरंभ में ही स्पष्ट किया है, इसका जन्म ही इन दोनों के संयोग से हुआ है। यह विवेचन करता है साहित्यिक रचना का और प्रविधि-प्रक्रिया ग्रहण करता है भाषाविज्ञान की। जिस प्रकार इसका क्षेत्र साहित्यशास्त्र की अपेक्षा संकुचित है, इसी प्रकार भाषाविज्ञान की अपेक्षा भी इसकी परिधि काफ़ी सीमित है। सॉस्यूर के अनुसार जन-व्यवहार की परम्परा और शास्त्र द्वारा परिनिष्ठित सार्वजनिक भाषा अपने सम्पूर्ण रूप में भाषाविज्ञान का विषय है। सॉस्यूर की स्थापना को स्वीकार करते हुए चार्ल्स बेली ने इस क्रम को आगे बढ़ाया और यह निर्णय दिया कि भाषा का उपर्युक्त सैद्धांतिक रूप (लांग) भाषा-विज्ञान का विषय है और भाषा का जीवंत व्यक्ति-सापेक्ष व्यावहारिक रूप (पैरोल) शैलीविज्ञान का। बाद के विद्वानों ने इसमें संशोधन कर यह स्थिर किया कि शैलीविज्ञान की परिधि में भाषा का केवल वही व्यक्ति-सापेक्ष जीवंत रूप आता है जिसका प्रयोग सर्जनात्मक साहित्य में होता है। इस प्रकार शैलीविज्ञान की परिधि सीमित हो गयी—उसमें न सार्वजनिक सैद्धांतिक भाषा का अध्ययन आता है, न व्यक्ति-सापेक्ष प्रायोगिक भाषा के व्यापक रूप का : उसका अपना अध्येय विषय है व्यक्तिनिष्ठ प्रायोगिक भाषा का वह रूप जिसकी संरचना प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से किसी कलात्मक प्रयोजन की सिद्धि—या सामान्य शब्दावली में कहें तो, सौन्दर्य की सृष्टि के लिए की जाती है। अतएव शैलीविज्ञान का संबंध केवल प्रायोगिक भाषाविज्ञान के साथ ही है। पहले इतना भी नहीं था, किंतु वर्तमान शती के दूसरे चरण में चोम्स्की आदि के प्रभाव से जब प्रायोगिक भाषाविज्ञान के स्वरूप और क्षेत्र आदि पर पुनर्विचार हुआ तो क्रमशः काव्य-भाषा भी उसकी परिधि में आ गयी जिसके फलस्वरूप शैलीविज्ञान का जन्म हुआ। भाषाविज्ञान के अन्य महत्त्वपूर्ण अंग और रूप—जैसे ऐतिहासिक भाषाविज्ञान, सैद्धांतिक भाषाविज्ञान, और उधर प्रायोगिक भाषा-विज्ञान के भी अनेक रूप जैसे ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान अर्थविज्ञान आदि

के अधिकांश क्षेत्र शैलीविज्ञान के साथ प्रायः असम्बद्ध हैं। "भाषाविज्ञान वह विज्ञान है जो भाषा का वर्णन करता है और यह स्पष्ट करता है कि भाषा किस तरह कार्य करती है, जबकि शैलीविज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय है प्रयोग-जन्य भाषिक परिवर्तन—विशेष रूप से सचेष्ट एवं जटिल भाषिक परिवर्तन जो साहित्य की निधि हैं।" (टर्नर)। भाषावैज्ञानिक विश्लेषण में संकलन की प्रवृत्ति रहती है; उसके अंतर्गत, अत्यंत अवधानपूर्वक लेखक की शब्दावली, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियापद, क्रियाविशेषण, वाक्यांश आदि की निश्चित योजना के अनुसार विस्तृत तालिकाएँ तैयार की जाती हैं और विशेष प्रयोगों की आवृत्तियों, साम्य-वैषम्य, संतुलन, समानांतर विन्यास-क्रम आदि का सांख्यिकीय अध्ययय प्रस्तुत किया जाता है। शुद्ध (साहित्यिक) शैलीविज्ञान की परिधि में यह सब नहीं आता। उसमें अनिवार्यतः चयन की प्रवृत्ति रहती है और वह केवल ऐसे विशेष प्रयोगों का ही विश्लेषण-संश्लेषण करता है जिनमें कलात्मक वक्रता होती है—अर्थव्यक्ति से आगे सौन्दर्य का सृजन जिनका उद्देश्य होता है। भाषाविज्ञान—विशेष कर प्रायोगिक भाषाविज्ञान द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण जहाँ परिमाणपरक होता है वहाँ शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण गुणात्मक होता है। भाषाविज्ञान के उपकरणों और प्रविधि का उपयोग शैलीविज्ञान को प्रामाणिक आधार प्रदान करता है, इसमें संदेह नहीं : किंतु इनका चयन तथा प्रयोग कलात्मक विवेक के आधार पर ही होना चाहिए।

शैलीविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र

भाषाविद् के मत से, काव्य भाषिक कला का नाम है। इसके चरण भाषा की धरती पर हैं और शिर कला के आकाश में। अतः शैलीविज्ञान का भाषाविज्ञान के साथ-साथ कला-दर्शन अथवा सौन्दर्यशास्त्र से भी घनिष्ठ संबंध है। स्पष्टतः, सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है, उसके अंतर्गत ऐसी कलाओं का भी विचार रहता है जिनका माध्यम भाषा नहीं है जबकि शैलीविज्ञान केवल भाषा-शैली का ही अध्ययन प्रस्तुत करता है; अन्य कलाओं की भी शैलियाँ होती हैं, परंतु उनका अध्ययन शैलीविज्ञान का विषय नहीं है। इस प्रकार, शैलीविज्ञान भाषिक सौन्दर्यशास्त्र का अंग है। केवल माध्यम की दृष्टि से ही नहीं,

तत्त्व-विचार की दृष्टि से भी सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है। मूर्त्त सत्ता के अतिरिक्त सौन्दर्य की एक आनुभविक, प्रातीतिक या संकल्पनात्मक अमूर्त सत्ता भी होती है जिसका महत्त्व सौन्दर्यशास्त्र के लिए अधिक है। अतः सौन्दर्य के मूर्त रूप के अतिरिक्त, उसके अमूर्त रूप के विचार का सौन्दर्यशास्त्र में अधिक महत्त्व है। सौन्दर्य की तीन प्रमुख—रूपवादी, भाववादी और आत्मवादी—अवधारणाओं में से शैलीविज्ञान का संबंध केवल पहली अवधारणा के साथ है : भाववादी और आत्मवादी संकल्पनाएँ मनोविज्ञान और तत्त्वमीमांसा का विषय हैं। और स्पष्ट शब्दों में—सौन्दर्यशास्त्र में जहाँ सौन्दर्य के वस्तु-रूप के अतिरिक्त, उसके भाव-रूप और तत्त्व-रूप का सैद्धांतिक चिंतन रहता है, वहाँ शैलीविज्ञान की परिधि केवल वस्तु-रूप तक ही सीमित है और वस्तु-रूप के अंतर्गत भी उसकी सीमा है भाषा। इस प्रकार, **शैलीविज्ञान सौन्दर्य के केवल भाषिक रूप का वस्तुपरक अध्ययन है,** जबकि सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य के समग्र रूप का शास्त्र है जिसकी परिधि में उसका दर्शन और विज्ञान—अमूर्त और मूर्त चिंतन दोनों ही आ जाते हैं।

शैलीविज्ञान और मनोविज्ञान

यदि शैली व्यक्ति-मन का प्रतिबिम्ब है, तो इस तर्क से शैलीविज्ञान का मनोविज्ञान के साथ प्रायः वैसा ही निकट संबंध होना चाहिए जैसा कि शैली का व्यक्ति-मन के साथ। आरंभ में यही स्थिति थी, परन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि मनोविज्ञान के साथ रब्त-ज़ब्त बढ़ाने से, कल्पना तथा अनुमान आदि तत्त्वों के उपयोग में वृद्धि हो जाने के कारण, शैलीविज्ञान के वस्तुनिष्ठ स्वरूप की क्षति होती है। अतः मनोविज्ञान से सम्पर्क कम होता गया और शैलीविज्ञान के वैज्ञानिक रूप की रक्षा पूरी सतर्कता से की जाने लगी। फिर भी, दोनों में रक्त का संबंध है जो टूट नहीं सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व जिस प्रकार उसके मानसिक तथा कार्मिक व्यवहार में व्यक्त होता है, उसी प्रकार वाचिक या भाषिक व्यवहार में भी। व्यक्तित्व और व्यवहार का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक ओर जहाँ मनुष्य का व्यक्तित्व उसके व्यवहार द्वारा व्यक्त होता है, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य के व्यवहार से उसके व्यक्तित्व का निर्माण भी होता है। इसी प्रकार, शैलीकार के

मानसिक व्यवहार द्वारा उसके भाषिक व्यवहार के अध्ययन में सहायता मिलती है और उधर उसके भाषिक व्यवहार के निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उसके व्यक्तित्व का अध्ययन भी एक सीमा तक साध्य हो जाता है। शैलीविज्ञान के छोटे-से इतिहास में इस तरह के प्रयत्न काफ़ी किये गये हैं। उदाहरण के लिए डा० जॉन्सन की रचनाओं में उपलब्ध समानांतर, प्रायः तनावपूर्ण उपवाक्यों तथा वाक्यांशों के प्रयोगों का संबंध उनके स्वाग्रही व्यक्तित्व के साथ स्थापित किया गया है; स्विफ़्ट की रचनाओं में लंबी और प्रायः क्रमहीन तालिकाएँ देने की जो प्रवृत्ति मिलती है, वह उनकी बिखरी हुई चित्तवृत्ति को प्रतिबिम्बित करती हैं। एडिसन की गद्यशैली में शब्द-युग्मों का प्रयोग उनके सरल-कोमल आग्रहमुक्त स्वभाव का आभास देता है।[1] स्वदेश-विदेश के अनेक शैलीकारों से उदाहरण देकर इस संबंध को और भी पुष्ट किया जा सकता है। शैलीवैज्ञानिकों का मत है कि शैली के मूल में प्रायः लेखक की चयन-प्रवृत्ति काम करती है; लेकिन यह चयन-वृत्ति जाने-अनजाने—सायास और अनायास, दोनों रीतियों से कार्य करती है। कभी-कभी तो अंतःप्रेरणा के दबाव से ही भाषिक तत्त्वों का चयन अनायास सिद्ध हो जाता है, और कभी ऐसा होता है कि आरंभ में लेखक अपनी रचना में प्रभाव और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए जिन भाषिक प्रयोगों का सतर्क होकर चयन करता है, वे धीरे-धीरे उसकी शैली में अंतर्भुक्त हो जाते हैं और लेखक केवल अभ्यासवश उनका प्रयोग करता रहता है। शैलीकार की मनोवृत्ति अनुलोम और विलोम दोनों रीतियों से काम करती है। अनुलोम संबंध होने पर शैली मनोवृत्ति के अनुरूप होती है—अर्थात् लेखक के चेतन मन की प्रवृत्तियों को ऋजु-सरल रीति से प्रतिफलित करती है। विलोम संबंध होने पर शैली व्यक्तित्व के प्रतिरूप होती है—अर्थात् वह शैलीकार के अवचेतन मन की अपूर्ण इच्छाओं और अभावों की पूर्ति करती है। ऐसी स्थिति में उसका स्वरूप प्रतिक्रियात्मक होता है। सारांश यह है कि व्यक्तित्व के साथ शैली का संबंध प्रायः तीन प्रकार का हो सकता है—

प्रत्यक्ष और सचेष्ट,
अप्रत्यक्ष और अविचारित,
अवचेतन और प्रतिक्रियात्मक।

१. देखिए, 'लिटरेरी स्टाइल' (सं० चैटमैन) में मिलिक का लेख।

इनमें से पहले दो की व्याख्या सामान्य मनोविज्ञान की सहायता से और तीसरे की अवचेतन मनोविज्ञान के द्वारा की जाती है। मनोविज्ञान का क्षेत्र वास्तव में अत्यंत विस्तृत है—और अवचेतन मन के अनुसंधान के बाद तो वह असीम हो गया है। स्वभावतः उसका एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसके साथ शैलीविज्ञान का कोई संबंध नहीं है। शैली-विज्ञान का संबंध केवल प्रायोगिक मनोविज्ञान से है—**प्रायोगिक मनो-विज्ञान** के भी उस अंश से जो मन की सर्जनात्मक एवं व्यंजनात्मक प्रवृत्तियों का विवेचन करता है।

शैलीविज्ञान और दर्शन

शैलीविज्ञान का दावा है कि वह विज्ञान है: 'साहित्य का एकमात्र विज्ञान' (डी० एलोंजो) और वह सहज ज्ञान तथा अनुमान आदि के फेर में न पड़कर वस्तुपरक निरीक्षण-परीक्षण को ही प्रमाण मानता है। उसका यह दावा एक सीमा तक उचित ही है। फिर भी, दर्शन का प्रभाव तो सार्वभौम है और चिंतन का कोई भी क्षेत्र उससे असम्पृक्त नहीं रह सकता: शुद्ध भौतिक विज्ञान की भी चरम सीमाएँ दर्शन के सीमा-क्षेत्र का स्पर्श करने लगती हैं, शैलीविज्ञान तो विज्ञान का आभास मात्र है। यों भी, यदि शैली लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिफलन है तो वह लेखक के जीवन-दर्शन तथा चिंतन-पद्धति से अप्रभावित कैसे रह सकता है? स्थूल रूप से व्यक्तित्व के चार स्तर माने जा सकते हैं: जैविक, रागात्मक, सामाजिक और बौद्धिक। इनके संश्लेषण से ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अतएव लेखक के व्यक्तित्व के समग्र रूप की अभिव्यक्ति होने के नाते शैली उसकी चिंतन-पद्धति से भी अनिवार्यतः सम्बद्ध है, इस सहज निष्कर्ष का प्रतिवाद कैसे किया जा सकता है? और इसके आधार पर शैलीविज्ञान भी दर्शन से निरपेक्ष कैसे रह सकता है?

पश्चिम के अनेक गभीरचेता शैलीवैज्ञानिकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। ला व्होर्फ़ ने अपने ग्रंथ 'लेंग्वेज, थॉट एंड रिएलिटी' में स्पष्ट लिखा है कि मनुष्य के तत्त्व-बोध की पद्धति पर उसकी भाषा की संरचना का निश्चित प्रभाव पड़ता है।[1] और उधर कैसीरेर ने भी

१. १९५६, पृ०२३

'फ़िलोसोफ़ी ऑफ़ सिम्बॉलिक फ़ॉर्म्स' में भाषिक प्रतीकों के दार्शनिक आधार का विवेचन किया है।[1] वास्तव में ज्ञान और शब्द-प्रतीक के अंतरंग संबंध का विवेचन, ज्ञानमीमांसा का एक प्रमुख विषय है। पश्चिम में, प्राचीनों में प्लेटो ने 'लोगोस' सिद्धांत के अंतर्गत, मध्ययुग में आखम आदि नामवादियों ने, सत्रहवीं शती में लॉक ने और उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में क्रोचे, क्वाइन, विटगेंस्टाइन आदि आधुनिक दार्शनिकों ने इसका गंभीर विवेचन किया है। इधर भारतवर्ष में, बौद्ध-न्याय-परंपरा में और वैदिक दर्शन के अंतर्गत न्याय तथा मीमांसा में इसका अत्यंत सूक्ष्म-गहन विश्लेषण हुआ है। भारत में दर्शन तथा व्याकरण का आरंभ से ही अन्योन्याश्रय संबंध रहा है और दोनों ने एक दूसरे की प्रतिपत्तियों को बड़ी दूर तक प्रभावित किया है। भर्तृहरि का वाक्यपदीय वस्तुतः भाषा का दर्शन[2] ही है जिसका प्रभाव परवर्ती दार्शनिक चिंतन पर भी काफ़ी रहा है।

अतः शैलीविज्ञान दर्शन के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहे, यह स्थिति न संभव है और न सही है। सही स्थिति यह है कि वह दर्शन की तरह अंतर्मुख न होकर विज्ञान की तरह बहिर्मख है—अर्थात् उसका विषय अमूर्त चिंतन न होकर मूर्त विश्लेषण है।

शैलीविज्ञान और समाजशास्त्र

भाषा समाज के जीवन-व्यापार का अनिवार्य साधन है और साहित्य उसका दर्पण। अतः शैलीविज्ञान, जो साहित्य का भाषिक अध्ययन है, दोनों छोरों पर—भाषा और साहित्य दोनों के माध्यम से समाजशास्त्र के साथ सम्बद्ध है। आरंभ में, मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान आदि का विकास स्वतंत्र अनुशासनों के रूप में हुआ था, परन्तु समाजवादी दर्शन के प्रभाव से समाजशास्त्र का महत्त्व बढ़ा और अन्य अनुशासनों में उसका प्रवेश होता गया : मनोविज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक मनो-

१. देखिए, 'लिटरेरी स्टाइल' (सं० चैटमैन,) पृ० ६६

२. तुलना कीजिए—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
(वाक्यपदीय-१)

यह अनादि-अनंत ब्रह्म शब्दरूप और अक्षर है जिससे, शब्द और अक्षर से अर्थ-प्रपंच की भाँति, जगत्-प्रपंच प्रकट होता है।

विज्ञान का और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक भाषाविज्ञान का विकास हुआ। इस प्रकार, सामाजिक भाषाविज्ञान के ज़रिये समाजशास्त्र का प्रवेश शैलीविज्ञान के क्षेत्र में भी हो गया। शैली में जिस हद तक शैलीकार के समाजिक व्यक्तित्व—अर्थात् देश-काल से निर्मित व्यक्तित्व का प्रतिफलन रहता है, उसी हद तक शैलीविज्ञान पर भी समाजशास्त्र का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। वैयक्तिक शैली से आगे बढ़कर शैलीवैज्ञानिकों ने वर्गीय शैली, युगीन शैली तथा राष्ट्रीय शैली आदि के जो अध्ययन प्रस्तुत किये हैं उनका आधार स्पष्टतः समाजशास्त्र ही है। समाजशास्त्र का क्षेत्र तो मनोविज्ञान, साहित्यशास्त्र आदि की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है : वह एक प्रकार से आधारशास्त्र है। स्वभावतः, शैलीविज्ञान का संपर्क उसके एक अंग विशेष से ही है, जिसका संबंध संचार-साधनों के साथ—मूलतः संचार के भाषिक साधनों के साथ है।

शैलीविज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता

उपर्युक्त विवेचन के बाद शैलीविज्ञान की वास्तविक स्थिति एवं स्वतन्त्र सत्ता का निर्णय करना आसान होगा। जहाँ तक दर्शन, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र जैसे मौलिक शास्त्रों का संबंध है, वे तो शैलीविज्ञान के उपजीव्य ही हैं : उनके अन्तरंग वृत्त में शैलीविज्ञान नहीं आता। शैली के अन्तरंग विवेचन में शैलीविज्ञान इन सभी शास्त्रों के अनेक सिद्धान्त-सूत्रों का उपयोग करता है, किन्तु इस प्रकार के प्रभाव-ग्रहण से उसकी स्वतन्त्र सत्ता अधिक बाधित नहीं होती। हाँ, भाषाविज्ञान, साहित्य-विद्या (साहित्यशास्त्र एवं साहित्य-समीक्षा) तथा सौन्दर्यशास्त्र के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है और वह निश्चय ही उनके अन्तरंग वृत्त में आता है। इनमें सौन्दर्यशास्त्र की परिधि भी काफ़ी विस्तृत है :

शैलीविज्ञान को भाषिक सौन्दर्यशास्त्र कहा जा सकता है, परन्तु इससे सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र का परिसीमन हो जाता है : सौन्दर्य-तत्त्व का विवेचन, जो सौन्दर्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है, एक प्रकार से छूट जाता है। शैलीविज्ञान का अन्तरंग संबंध भाषाविज्ञान और साहित्य-विद्या के साथ है और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को खतरा भी इन्हीं दोनों से है क्योंकि दोनों ही उसे अपना एक अंग या नवीन आयाम मानने का दावा करते हैं। भाषावैज्ञानिक का दावा है कि शैलीविज्ञान भाषा-विज्ञान की ही एक नवीन शाखा है क्योंकि एक तो इसके अध्ययन का विषय—साहित्यिक भाषा—भाषा का ही एक विशेष रूप है, और दूसरे इसके अध्ययन की प्रविधि भी मुख्यतः भाषाविज्ञान के सिद्धान्त-सूत्रों और प्रविधि-प्रक्रिया से अनुशासित है। उधर साहित्यविद् का दावा है कि शैलीविज्ञान जिस भाषिक विधान का अध्ययन करता है वह, भाषा के अन्य रूपों से विशिष्ट होने के कारण, साहित्य का अनिवार्य माध्यम-अंग है। यद्यपि शैलीविज्ञान उसका अध्ययन परम्परागत साहित्यशास्त्रीय रीति-नियमों तथा पद्धति से न कर भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त-सूत्रों और प्रविधि-प्रक्रिया से करता है, फिर भी उसका उद्देश्य ऐसे तत्त्वों का विश्लेषण तथा संधान है जिनका संबंध भाषा के विज्ञान से नहीं वरन् कला से है।—और, चूँकि पदार्थ-निर्णय में विधि की अपेक्षा उद्देश्य की प्रधानता रहती है, अतः शैली का अध्ययन साहित्यिक अध्ययन का ही अंग है, भाषिक अध्ययन का नहीं : इसी तर्क से शैलीविज्ञान साहित्य-विद्या का अंग है, भाषाविज्ञान का नहीं। ये दोनों दावे तर्क-सम्मत और प्रामाणिक हैं और उसी सीमा तक शैली-विज्ञान के स्वतंत्र अस्तित्व के विरुद्ध पड़ते हैं। इसीलिए अनेक विद्वानों ने उसे भाषाविज्ञान और साहित्यशास्त्र का संयोजक सेतु या संकर शास्त्र या मिश्र शास्त्र कहकर समस्या का समाधान कर लिया है। वास्तव में, जैसा कि रैने वैलेक ने कहा है,[1] स्वतंत्र या परतंत्र अस्तित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है : साहित्य के विद्यार्थी के लिए महत्त्वपूर्ण यह है कि शैलीविज्ञान साहित्य के अध्ययन में कहाँ तक मौलिक योग-दान करता है—उसे किस सीमा तक प्रामाणिक, गंभीर एवं व्यापक बनाता है।

१. 'लिटरेरी स्टाइल, ए सिंपोज़ियम' (चैटमैन), पृ० ६५

इस दृष्टि से, शैलीविज्ञान की शक्ति और सीमा प्रायः वही है जो नयी समीक्षा की। नयी समीक्षा की अपेक्षा शैलीविज्ञान को एक यह लाभ है कि उसे दृढ़ भाषावैज्ञानिक आधार प्राप्त है। नये समीक्षक भी भाषिक आधार लेकर चलते रहे हैं, परन्तु भाषाविज्ञान का विधिवत् अध्ययन न होने के कारण उनकी प्रतिपत्तियाँ प्रायः प्रामाणिक नहीं हो पायीं। टेट का 'तनाव' या 'शब्दार्थ-संतुलन', ऐम्पसन की 'अनेकार्थता' विमसाट का लक्षणा पर आश्रित 'मूर्त सार्वभौम' आदि वास्तव में भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के परिणाम न होकर समीक्षकों की भाषिक अन्तर्दृष्टि की ही उद्भावनाएँ हैं। नये समीक्षकों ने अपनी सहज बुद्धि के आधार पर इनके द्वारा मनमाने ढंग से भाषा-संबंधी निष्कर्ष निकाले हैं जो भाषाविज्ञान के निकष पर खरे नहीं उतरते। इस प्रकार, नयी समीक्षा वैज्ञानिक परीक्षण और अन्तर्ज्ञान के बीच भटक गयी है। शैलीविज्ञान इस भटकाव से मुक्त है। लेकिन नयी समीक्षा की तुलना में शैलीविज्ञान की एक स्पष्ट परिसीमा भी है। नयी समीक्षा काव्य-कृति की रूपान्विति में विश्वास करती है—वह भाषिक विधान के विश्लेषण-संश्लेषण के द्वारा कृति की मूलवर्ती अन्विति का संधान और आख्यान कर उसके कलात्मक प्रयोजन तक पहुँचने का उपक्रम करती है। शैलीविज्ञान वृत्त के केन्द्रबिन्दु तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता, शायद उसकी आवश्यकता ही नहीं समझता: उसका ध्यान भाषिक वृत्तखण्ड पर ही केन्द्रित रहता है। इस परिसीमा का कारण है शैली-वैज्ञानिक का सदोष काव्य-लक्षण जिसके अनुसार भाषा काव्य-कला का माध्यम-उपकरण नहीं है वरन् काव्य ही भाषिक कला का पर्याय है। यह लक्षण निश्चय ही एकांगी है और इससे प्रेरित काव्य-विवेचन भी अधूरा रह जाता है। उक्त लक्षण की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है: एक तो यह कि काव्यत्व भाषा के रचना-नैपुण्य में निहित है और दूसरा यह कि भाव या विचार की चारुता—अर्थ की रमणीयता—भाषा के कुशल प्रयोग पर ही निर्भर करती है: कथ्य का सौन्दर्य कथन के सौन्दर्य से अभिन्न है—कथन के सौन्दर्य से स्वतंत्र कथ्य के सौन्दर्य की सत्ता नहीं है। इनमें से पहली व्याख्या रूढ़िवादी है; कविता के ह्रास-युग में प्रायः इसकी अनुगूँज सुनाई देती रही है। इससे कविता मानव व्यक्तित्व की परिपूर्ण अभिव्यक्ति के उच्चतर धरातल से स्खलित हो जाती है—सर्जनात्मक कला के स्थान पर कारी-

गरी बनकर रह जाती है :

बन्दिशे अल्फ़ाज़ जड़ने से नगों के कम नहीं ;

शायरी भी काम है आतिश मुरस्सासाज़ का ।

दूसरी व्याख्या में एक जटिल प्रश्न उठाया गया है जिसका समाधान कठिन है। फिर भी, उस पर काफ़ी विचार हो चुका है और कथ्य तथा कथन का अभिन्न संबंध स्वीकार करने पर भी यह मान्य नहीं हुआ है कि कथन के अतिरिक्त भाव या विचार का अपना कोई अस्तित्व अथवा मूल्य नहीं है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर इसका यह अर्थ हो जाएगा कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसकी वाणी में केन्द्रित है अथवा केवल वाक्चातुर्य मनुष्य के चारित्र्य का आधार है। मानव-चरित्र की गरिमा का आकलन जिस प्रकार वाक्-चातुर्य मात्र से नहीं किया जा सकता—अनेक बार मात्र वाक्चातुर्य गरिमा के अभाव का द्योतक भी हो सकता है, इसी प्रकार केवल भाषिक रचना-नैपुण्य के आधार पर काव्य-मूल्य का भी आकलन नहीं किया जा सकता—शब्द की कारीगरी अक्सर काव्यगुण के ह्रास का कारण या परिणाम हो सकती है। भाषाविद् का, या कहिए उत्साही भाषाविद् का (क्योंकि शायद गंभीर भाषाविद् इसका आग्रह न करे) यह तर्क अनुभूति-अभिव्यक्ति संबंध के सहज क्रम को उलट देता है। कुछ अधिक उत्साही तार्किक और आगे बढ़कर यह कह सकते हैं कि अनुभूति-अभिव्यक्ति की पार्थक्य-कल्पना ही मिथ्या है : लेकिन नैयायिक की प्रतिज्ञा से आगे, व्यावहारिक जीवन अर्थात् अनुभव, विचार और कर्म में, इस तर्क का कोई मूल्य नहीं है। जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर यह कौन मान सकता है कि प्रेम की अनुभूति मधुर वचनों में या उत्साह का अनुभव केवल ऊर्जस्वित शब्दावली में ही निहित है : चित्त के मार्दव तथा मन के ओज का कोई अस्तित्व ही नहीं है ?—

मोर मनोरथ जानहु नीके ।

बसहु सदा उर-पुर सबही के ॥

कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही ।

अस कहि चरन गहे बैदेही ॥

उक्त काव्यबंध के आकर्षण का आधार क्या है ? भाषिक विधान ? सीता की वचन-चातुरी ? यह मानने पर तो इसका सौन्दर्य ही नष्ट हो जाएगा—लगेगा जैसे सीता पार्वती के साथ चतुराई कर रही हैं।

वास्तव में, इस पद्यबंध में विशेष भाषिक चमत्कार है भी नहीं; पहली अर्धाली में तो अभिव्यक्ति की अपेक्षा व्याख्या ही अधिक है। इसका प्रमाण यह है कि यदि भाषिक रचना में परिवर्तन कर दिया जाए या उसका गद्यान्तर कर दिया जाए तो भाव-सौन्दर्य में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। आकर्षण का आधार है सीता का राम के प्रति समर्पण-भाव, पार्वती के प्रति अतर्क्य आस्था, और इन दोनों का प्रेरक शील-संस्कार। इस तथ्य को अवगत किये बिना काव्यगुण की व्याख्या केवल भाषिक विश्लेषण के आधार पर संभव नहीं है। यहाँ भाषाविद् तर्क कर सकता है कि शील-संस्कार आदि की अभिव्यक्ति का माध्यम भी तो भाषा ही है। परंतु, इसका निषेध कौन करता है? काव्य का अस्तित्व—मूर्त अस्तित्व—भाषा के बिना संभव नहीं है, यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। काव्यगुण की सृष्टि में भी भाषिक नैपुण्य का योगदान है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। मेरा विवाद तो उत्साही भाषाविद् के सिर्फ़ इस दावे के साथ है कि काव्य-सौन्दर्य का एक मात्र आधार भाषिक सौन्दर्य है : केवल भाषा के कुशल प्रयोग से ही काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। व्यक्ति के जीवन में वाक् का महत्त्व असंदिग्ध है, किंतु वह प्राणशक्ति अथवा चेतना की स्थानापन्न तो नहीं हो सकती : वाक् की शक्ति का आधार भी प्राणशक्ति ही है। इसी प्रकार, भाषा जीवन का अनिवार्य तो नहीं, किंतु अत्यंत मूल्यवान् माध्यम-उपकरण निश्चय ही है—अनिवार्य इसलिए नहीं कि जीवन के अनेक मौलिक व्यापार भाषा के बिना भी सम्पन्न होते हैं; फिर भी, वह माध्यम ही है, मूल्य नहीं। जीवन के मूल्य, जो उसका अनुशासन एवं परिचालन करते हैं, राग और बुद्धि के ही फलयोग हैं; और ये ही रागात्मक-बौद्धिक मूल्य भाषा की मूल्यवत्ता के भी आधार-स्रोत हैं। इनसे वंचित होकर बड़े से बड़ा मूल्यवान् अनुभव भी 'शाब्दिक' बनकर जीवन में अपना महत्त्व खो देता है—जैसे 'शाब्दिक प्रेम' 'शाब्दिक उत्साह' आदि।

नई समीक्षा की सबसे बड़ी कमज़ोरी यही थी कि उसने जीवन के इन महत्तर मूल्यों के साथ काव्य की संवादिता का निषेध किया। शैलीविज्ञान इस ग़लती को सिर्फ़ दुहरा ही नहीं रहा, बल्कि अपने उत्साह में एक क़दम और आगे बढ़ रहा है। साहित्यिक कृति का प्राणतत्त्व है उसका केन्द्रिक संवेदन जिसे कलाविद् 'कलात्मक प्रयोजन'

अथवा 'कलात्मक अनुभूति' कहता है। कलाकृति के सभी प्रसाधन-उपकरण तथा संयोजक तत्त्व इसी केन्द्रीय अनुभूति के साथ संबद्ध रहते हैं—अथवा कहना चाहिए कि यह केन्द्रीय अनुभूति इन सब को समेकित कर कला का रूप देती है। यह संबंध केवल भाषिक नहीं है; इसमें कल्पना और मानव-संवेदना का अनिवार्य योग रहता है। ये दोनों तत्त्व जहाँ एक ओर रचना के आंतरिक उपकरणों का समन्वय करते हैं, वहाँ रचना के बाहर, जीवन के व्यापक मूल्यों के साथ संबद्ध कर कलाकृति को मूल्यवत्ता भी प्रदान करते हैं। इन समस्त अंतर्बाह्य संबंध-सूत्रों और उनके समीकरण का संधान किए बिना कला-समीक्षा का वृत्त पूरा नहीं हो सकता। शास्त्र की पूर्णता प्राप्त करने के लिए शैली-विज्ञान को यह वृत्त पूरा करना होगा। अभी उसकी इस ओर प्रवृत्ति नहीं है—शायद आस्था भी नहीं है, इसलिए वह अधूरा है या अधिक से अधिक 'सहायक शास्त्र'[1] बन सका है।

सीमा-विस्तार के सभी प्रयत्नों के बावजूद, शैलीविज्ञान वाक्य या अधिक-से-अधिक एक छोटे-से स्वतःपूर्ण रचना-बंध की परिधि के भीतर जितना सफल हो सकता है उतना पद्य के व्यापक प्रबंध-विधान के क्षेत्र में नहीं। विलसन नाइट ने जोश में आकर यह कह तो दिया कि शेक्स-पियर का पूरा नाटक 'लक्षणा का विस्तार'[2] है, किंतु इससे किसी काल-जयी कृति के मर्म को समझने में क्या सहायता मिलती है? शेक्सपियर की उक्तियों के बारीक से बारीक विश्लेषण के बाद, उसकी नाट्य-कला के मर्म को समझने के लिए, आखिर ऐम्पसन को ब्रेडले की शरण में ही जाना पड़ा। 'संदर्भ-व्याकरण'[3] अथवा 'संदर्भ-शैली'[4] से काम नहीं चलता। भाषिक सूत्रों के आधार पर प्रबंध के विधान और मूल अर्थ आदि की व्याख्या के जो प्रयास हुए हैं उनसे स्वयं शैलीवैज्ञानिकों को संतोष नहीं है, साहित्यशास्त्र और समीक्षा की समृद्ध परंपरा में दीक्षित मर्मान्वेषी पाठक का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कारण यह है कि इनमें साध्य और साधन की अनुरूपता के सिद्धांत का उल्लंघन कर

१. ऑग्ज़िलरी
२. एक्सटेंडेड मेटाफ़र
३. डिस्कोर्स ग्रैमर
४. डिस्कोर्स स्टाइल

दिया गया है। प्रबंध-साहित्य का मूल तत्त्व कार्य-व्यापार है, उक्ति नहीं। स्वभावतः उसका रचनाविधान ऐसे प्रसंगों अथवा संदर्भों के द्वारा निर्मित होता है जिनका एक विशेष जीवन-दर्शन या एक विशेष रागात्मक दृष्टिकोण तथा उससे परिचालित कार्य-व्यापार के साथ घनिष्ठ संबंध रहता है। इसलिए, केवल भाषिक विश्लेषण के आधार पर उसका आख्यान नहीं किया जा सकता। उक्तियाँ संकेत-सूत्रों का कार्य कर सकती हैं और नाट्य-प्रबंध अथवा काव्य-प्रबंध के प्रायः सभी प्रसिद्ध आलोचकों ने उनका भरपूर उपयोग किया है। किंतु विश्लेषण का केन्द्र कार्यविधान ही रहा है, भाषिक विधान नहीं। भाषिक विश्लेषण के द्वारा प्रबंध-विधान के परिपूर्ण व्याख्यान का प्रयास उतना ही असफल रहेगा जितना कि केवल वाचिक व्यवहार के आधार पर किसी महापुरुष के समग्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व का।

कहने का अभिप्राय यह है कि शैलीविज्ञान की वास्तविक उपादेयता उसके साधन रूप में ही है। उसने साहित्य के शब्दमूर्त रूप के विश्लेषण के लिए, भाषाविज्ञान की नवीन प्रतिपत्तियों तथा प्रविधि-प्रक्रिया का सविवेक उपयोग करते हुए, उसके मूल अर्थ—काव्यार्थ को व्यक्त करने, तथा कलात्मक मूल्य का आकलन करने की एक विशिष्ट प्रणाली का व्यवस्थापन किया है, इसका श्रेय उसे अवश्य मिलना चाहिए। लेकिन इस संबंध में दो बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए :

(१) यह व्यवस्थापन मात्र है, आविष्कार नहीं क्योंकि इसके बीज यूरोप में अरस्तू से लेकर १९वीं शती तक के आलोचकों की रचनाओं में, और भारतवर्ष में भामह, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनंदवर्धन कुन्तक तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों में निश्चित रूप से मिलते हैं : वामन और कुन्तक ने तो एक परिपूर्ण 'भाषिक काव्यशास्त्र' का निर्माण ही किया है।

(२) शैलीविज्ञान को अपनी सीमाओं का विस्तार कर साहित्य के चैतन्य पक्षों—रागात्मक, दार्शनिक, सामाजिक पक्षों—के साथ सौहार्द स्थापित करना होगा। इससे उसके स्वतंत्र अस्तित्व को ख़तरा हो सकता है किंतु सार्थकता बढ़ जाएगी।

शैलीविज्ञान-२

भारतीय काव्यशास्त्र और शैलीविज्ञान

भाषा तथा भाषाशास्त्र का माहात्म्य

भारतीय काव्यशास्त्र में भाषा तथा भाषाशास्त्र—व्याकरण—का महत्त्व आरंभ से ही मान्य रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र के आद्यग्रंथ नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के अंतर्गत व्याकरण का विवेचन हुआ है। प्राचीन आचार्य दण्डी ने भाषा का स्तवन करते हुए लिखा है :

(i) **वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते। १. ३-२**

(ii) **इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।।**
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।। काव्यादर्श, १।

(iii) **गौगौः कामधुका सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।। ६३/२**

(i) भाषा की सहायता से ही लोक-व्यवहार चलता है।

(ii) यदि यह शब्दरूपी आलोक संसार-भर में व्याप्त होकर उसे दीप्तिमान न करता तो तीनों लोक पूर्णतः अन्धकार से आच्छन्न होते।

(iii) सम्यक् रूप से प्रयुक्त वाणी को विद्वानों ने सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु कहा है।

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति

(पातंजल महाभाष्य—प्रथम आह्निक)

भारतीय वाङ्मय में भाषाशास्त्र का परिपूर्ण रूप व्याकरण में मिलता है। काव्यशास्त्र के दो मूल आधार हैं, जिनमें पहला स्थान है व्याकरण का और दूसरा है दर्शन का। प्रायः सभी आचार्यों ने व्याकरण के माहात्म्य का मुक्त कण्ठ से उल्लेख किया है। भर्तृहरि ने

तो वाक्यपदीय में व्याकरण को अधिविद्या कहा ही है : **पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते।** (वा० १। १३-१४।) भामह आदि काव्यशास्त्रकारों ने भी काव्य-रचना के अभिलाषी के लिए व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य माना है : **तस्य चाधिगमे यत्नः कार्यः काव्यं विधित्सता।** (का० ६-४$\frac{3}{2}$) क्योंकि उनका निश्चित मत है कि दुरवगाह व्याकरण समुद्र को पार किये बिना कोई व्यक्ति शब्द-रत्न की प्राप्ति नहीं कर सकता :

नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम् ।
शब्दरत्नं स्वयंगम्यलंकर्तुमयं जनः ।। १।३

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों को आदिविद्वान और व्याकरण को सब विद्याओं का मूल माना है। **प्रथमेहि विद्वान्सो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्** (हिं० ध्वन्यालोक ज्ञा० मं० पृ० २३)। ध्वन्यालोक के **बुधैर्यः समाम्नात् पूर्वः** शब्दों के आधार पर मम्मट ने स्पष्ट लिखा है— 'बुधैः' अर्थात् वैयाकरणों ने प्रधानभूत, स्फोटरूप, व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया है। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्य विद्वानों अर्थात् साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी वाक्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग आरम्भ कर दिया।'
('काव्यप्रकाश'—टीकाकार आ० विश्वेशर, ज्ञा० मं०, का० १. ४. २.)

वास्तव में काव्यशास्त्र के अन्तर्गत, काव्य के शरीर रूप शब्दार्थ के गम्भीर विवेचन का मूल आधार व्याकरण ही रहा है और भामह से लेकर जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने व्याकरण का सूक्ष्म-गहन अध्ययन कर पद-पद पर उसके सूत्रों का आश्रय लिया है। भामह, रुद्रट, वामन, भोज आदि ने तो नियमित रूप से शब्द-प्रयोग, शब्द-शुद्धि, आदि का स्वतन्त्र अध्यायों में व्याकरणिक विवेचन किया है। ध्वनिकार द्वारा ध्वनि अथवा व्यंजना की स्थापना और महिमभट्ट द्वारा अनुमान के आधार पर उसका खण्डन काव्यशास्त्र की अपेक्षा व्याकरण का ही अंग अधिक है। ध्वनि तथा वक्रोक्ति के विभागों की कल्पना पूर्णतः व्याकरण पर ही आधृत है। इसके अतिरिक्त शब्द के भेद, शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, अर्थ के विभिन्न प्रकार, वृत्ति, गुण, दोष तथा अलंकार के अनेक भेद-प्रभेदों के प्रत्यक्ष संकेत व्याकरण के सूत्रों से ग्रहण किये गये हैं। अतः

भारतीय काव्यशास्त्र का व्याकरण के साथ अत्यन्त मौलिक एवं व्यापक सम्बन्ध रहा है। काव्यशास्त्र में काव्य के आस्वाद का विवेचन जहाँ दर्शन के आधार पर हुआ है वहाँ स्वरूप के विवेचन का आधार मूलतः व्याकरण ही रहा है; और, इस प्रकार यहाँ काव्य के भाषिक अध्ययन की अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध परम्परा विद्यमान है।

काव्य का भाषिक आधार

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में काव्य की आत्मा को लेकर तो गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ है; किन्तु उसके शरीर के विषय में आरम्भ से ही ऐकमत्य रहा है—और सभी ने एक स्वर में कहा है कि काव्य शब्दार्थ रूप है।

१. भामह—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।**
—सहित अर्थात् सामञ्जस्ययुक्त शब्दार्थ का नाम काव्य है।

२. दण्डी—**शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।** १. १०।२
अभीप्सित अर्थ से युक्त पद-समूह काव्य-शरीर है।

३. वामन—**काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः** शब्दार्थयोर्वर्तते।
(का० सू० वृ० १. १. १. ३.)
—काव्य शब्द का प्रयोग गुणालंकार से संस्कृत शब्द-अर्थ के लिए होता है।

४. रुद्रट—**ननु शब्दार्थौ काव्यम्**—। २. १.
शब्द-अर्थ का नाम काव्य है।

५. कुंतक—**शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।**
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् ॥ व० जी० १ । ७ ।.
—वक्रोक्ति-युक्त बन्ध में सहभाव से व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है।

ये सभी उद्धरण देहवादी आचार्यों के हैं—अर्थात् ऐसे आचार्यों के हैं जो काव्य के वस्तुरूप को ही महत्त्व देते हैं। 'देहवादी' विशेषण का प्रयोग हम जान-बूझकर इसलिए करते हैं कि नयी समीक्षा में भी 'काव्य-शरीर' की चर्चा होने लगी है। लेकिन, आत्मवादी आचार्य भी इस विषय में पूर्णतः एकमत हैं —

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए भी

काव्य को शब्दार्थ-रूप ही माना है : **शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे···।**[1] उनका स्पष्ट मत है कि 'वाच्यवाचक-रचनाप्रपंच ही काव्य का मूल आधार है : **विविध-वाच्य-वाचक-रचनाप्रपञ्च-चारुणः काव्यस्य···।**[2] रसवाद के सर्वमान्य पुरोधा अभिनवगुप्त ने भी रस को प्राणभूत मानने के बावजूद काव्य को 'शब्दार्थ-शरीर' ही कहा है : **काव्ये तु गुणालंकारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके···।**[3] इसी प्रकार परवर्ती रस-ध्वनिवादियों ने काव्य की शब्दार्थरूपता को निर्भ्रांत रूप से स्वीकार किया है। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि के लक्षण इस मान्यता के प्रमाण हैं : मम्मट के लक्षण—**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि** में शब्दार्थ ही विशेष्य अथवा आधार है, सगुणौ आदि विशेषण मात्र हैं। विश्वनाथ के सूत्र में 'वाक्य' ही मूल पद है, 'रसात्मक' उसका विशेषण है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के भाषिक आधार=शब्दार्थ के महत्त्व का इससे बढ़कर एक और प्रमाण यह है कि अनेक प्रमुख आचार्यों ने शब्द और अर्थ में भी अर्थ की अपेक्षा शब्द को ही प्रमुख माना है। भामह ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि वस्तुतः शब्द-सौन्दर्य—'सौशब्द्य' ही काव्य है क्योंकि अर्थ-सौन्दर्य में ऐसा चमत्कार नहीं होता :

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी। का० १।१५½

इसी प्रकार आनन्दवर्धन ने भी काव्य को 'शब्दात्मा' कहा है : **वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यम्···।**[4]—और अन्त में पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'काव्य शब्दार्थ रूप न होकर तत्त्वतः शब्द रूप ही है' इस विषय को लेकर पूरा शास्त्रार्थ ही कर डाला है : **शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्, 'काव्यमुच्चैः पाठ्यते', 'काव्यादर्थोऽवगम्यते,' 'काव्यं श्रुतं अर्थो न ज्ञातं' इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारत. प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।**—अर्थात् शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं—क्योंकि 'उच्च स्वर से काव्य-पाठ हो रहा है',

१. ध्वन्यालोक (चौखम्बा सं० सी०), पृ० ५३८
२. ध्वन्यालोक (चौ०), पृ० ८७
३. हिं० अभिनव-भारती प्र० सं०, पृ० १८५
४. ध्वन्यालोक (चौ०), पृ० १३५

'काव्य से अर्थ समझ में आता है',—अथवा काव्य तो सुना; पर अर्थ समझ में नहीं आया आदि, सार्वजनिक व्यवहार से सिद्ध होता है कि विशिष्ट प्रकार का 'शब्द' ही काव्य है—(अर्थ नहीं)।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह सप्रमाण सिद्ध हो जाता है कि 'काव्य भाषिक विधान है'—यह मान्यता भारतीय काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही बद्धमूल रही है, और उधर यूरोप में भी इसके विषय में कभी द्विविधा नहीं रही। इसलिए सबसे पहले रैन्सम को इस बारे में इलहाम नहीं हुआ कि 'कविता भाषा है।' रैन्सम से हज़ार वर्ष पूर्व भारतीय आचार्य इतने ही विश्वास के साथ कह चुका था : **ननु शब्दार्थौ काव्यम्**। (रुद्रट-का० २-१)।

काव्य-शैली का वस्तुपरक विवेचन

भारतीय काव्यशास्त्र में शैली के समानार्थक दो शब्दों का प्रयोग हुआ है : मार्ग और रीति। इनमें रीति शब्द बाद में परिनिष्ठित हो गया। वामन की 'रीति' वास्तव में काव्य-शैली का वस्तुगत रूप ही है। रीति विशिष्ट पद-रचना का नाम है। वामन तथा अन्य आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इस वैशिष्ट्य के साधक उपकरणों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इसके विषय में पहला ज्ञातव्य तथ्य तो यह है कि इस पद-रचना का उद्देश्य व्यक्तिगत राग-द्वेष, संकल्प-विकल्प आदि की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। इसके मूल में एक निश्चित प्रयोजन रहता है और वह है सौन्दर्य की सृष्टि[2] : **काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः** (वामन)। इस दृष्टि से इसमें अनेक असाधारण तत्त्वों या गुणों का समावेश हो जाता है।

विपथन : सबसे प्रमुख गुण है वक्रता जिसका अर्थ है **प्रसिद्धाभिधान-व्यतिरेकिणी विचित्राभिधा**[3]—अर्थात् प्रसिद्ध कथन का व्यतिरेक करने वाली विचित्र अभिधा या भाषिक शैली। प्रसिद्ध शब्द का स्वयं कुंतक ने दो स्थलों पर स्पष्टीकरण किया है :

१. **शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकि**[4]—शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के परिनिष्ठित प्रयोग से भिन्न।

१. रसगंगाधर (हिन्दी) चौखम्बा, पृ० १४
२. ऐस्थेटिकली आर्गनाइज़्ड लैंग्वेज।
३-४ हिं० व० जी० १/१० की वृत्ति, पृ० ५१

२. **अतिक्रांतप्रसिद्धव्यवहारसरणि**—प्रचलित व्यवहार-शैली का अति-क्रमण करने वाली।

(हि० व० जी० पृ०५१)

इस प्रकार वक्रता का अर्थ हुआ—शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त भाषिक विधान का व्यतिरेक : आधुनिक शैलीविज्ञान की शब्दावली में **मानक भाषिक विधान से विपथन**। भोज ने इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए लिखा है : शास्त्र और लोक में प्रयुक्त जो सामान्य वचन-विन्यास=भाषिक विधान है, वह केवल कथन, भामह के शब्दों में 'वार्ता' मात्र है। 'अर्थवाद' आदि में प्रयुक्त—अर्थात् विशेष प्रभावादि उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रेरित वक्रता काव्य है।' (शृं० प्र० ६. ६. पृ० ४२६)। अतः भारतीय काव्यशास्त्र में 'मानक भाषा से विपथन' को आरम्भ से ही काव्य-शैली का मूल तत्त्व माना गया है। सबसे पहले भामह ने **लोकातिक्रांतगोचर** अर्थात् लोक-सामान्य से विचित्र भाषा-प्रयोग के रूप में इसका निर्देश किया,[1] फिर दण्डी ने **'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा'** के रूप में : **'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी'**[2]; दण्डी के बाद आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि ने 'शब्द और अर्थ का लोक-व्यवहृत रूप से भिन्न लोकोत्तर रूप में अवस्थान' कहकर मान्यता प्रदान की और अन्त में कुंतक ने एक सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त के रूप में ही इसकी प्रतिष्ठा कर दी। कवि भाषा के ऋजु पथ से विपथन कर वक्र मार्ग से चलता है : यह उसका स्वभाव है, स्वधर्म है। संस्कृत में वक्रता का एक अर्थ विपथन भी है, इसीलिए डॉ० राघवन ने आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व वक्रोक्ति के लिए 'डेविएटिंग ऐक्सप्रेशन'—विपथन-शील कथन भंगिमा' शब्दावली का प्रयोग किया था।[3]

उपचार

काव्य-शैली का एक अन्य आधार-तत्त्व है उपचार या लक्षणा। पश्चिम के शैलीविज्ञान में इसका बड़ा महत्त्व है। उपचार में अर्थ का

१. भामह काव्यालंकार ३. ८१।
२. काव्यादर्श २. २१४।
३. देयरफ़ोर एकॉर्डिंग टु भामह दि होल रिअल्म ऑफ़ पोयटिक ऐक्सप्रेशन इज़ परमिएटेड विद वक्रोक्ति, स्ट्राइकिंग, डेविएटिंग ऐक्सप्रेशन। (भोज्स शृंगारप्रकाश, पृ० ११४)

संक्रमण होता है जिसके द्वारा शब्दार्थ-प्रयोग में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।* काव्य-भाषा में विपथन के जो विविध रूप मिलते हैं, उनमें से अनेक के मूल में यह सूक्ष्मतर अर्थ-संक्रमण ही विद्यमान रहता है। इसलिए विमसाट ने इसे काव्य का मूल गुण माना है और विल्सन नाइट ने शेक्सपियर के पूरे के पूरे नाटक को ही 'लक्षणा का विस्तार' मान लिया है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी लक्षणा का महत्त्व आरम्भ से ही मान्य रहा है। आनन्दवर्धन के अनुसार भक्तिवादियों की, जो लक्षणा को काव्य का प्राणतत्त्व मानते थे, एक प्राचीन परम्परा रही है। भोज ने तो इसे 'वक्रता' का आधार ही मान लिया है :

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।[1]

इधर जयदेव ने भी शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक, तथा लिंग आदि में व्याप्त लक्षणा को 'अलंकरांकुरबीज' अर्थात् समस्त काव्य-शोभा का मूल हेतु कहा है।[2]

चयन

शैलीविज्ञान के अनुसार काव्यशैली के निर्माण में चयन का बड़ा महत्त्व है। अमरीकी लेखक लुई मिलिक ने चयन की विचारित और अविचारित रीतियों का भेद करते हुए विचारित शब्दार्थचयन को 'आलंकारिक निर्वाचन' और अविचारित चयन को 'शैलीवैज्ञानिक विकल्प' कहा है। उनका मत है कि शैली के निर्माण में चयन की प्रक्रिया अनिवार्य है। कहीं तो लेखक सावधान होकर अपने कलात्मक विवेक से शब्दों का (पदों का), शब्द-घटकों, वाक्यांशों और वाक्यों का चयन करता है—अर्थात् अनेक समानार्थक शब्दों, शब्द-घटकों, वाक्यांशों तथा वाक्यों में से सन्दर्भ तथा अभीष्ट कलात्मक प्रभाव के अनुरूप किसी एक का निर्वाचन करता है। कहीं अभ्यासवश अविचारित रूप में इस प्रकार का निर्वाचन करता है। वास्तव में, जहाँ तक काव्य-शैली का संबंध है, दूसरी प्रक्रिया पहली का ही

१. देखिए—भोज्स श्रृंगारप्रकाश, डॉ० राघवन, पृ० १३१ तथा स० कं० (नि० सा० प्रे०), पृ० १८८
२. चन्द्रालोक, १।१६

विकास है—अर्थात् आरम्भ में उसका शब्दार्थ-विवेक प्रयत्नसाध्य होता है, किन्तु कर्तृत्व-शक्ति के विकास के साथ-साथ वह उसकी सृजन-प्रक्रिया का अंग-सा ही बन जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रक्रिया का अत्यन्त विशद विवेचन हुआ है :

आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

[काव्यमीमांसा (हिन्दी)—राजशेखर, पृ० ४६]

कविता में सन्दर्भ के अनुकूल पदों को रखने और हटाने में जब तक चित्त चंचल रहता है, तभी तक कवि की अपरिपक्वावस्था समझनी चाहिए। जब पद-चयन में स्थिरता प्राप्त हो जाए तब समझना चाहिए कि अब सरस्वती सिद्ध हो गयी।

भामह ने काव्यशैली के लिए, शब्दों का सावधान चयन अनिवार्य माना है : "यह सुगंधित फूल ग्रहण करने (लगाने) योग्य है; यह भद्दा है, अतः त्याज्य है; यह गूँथने पर सुन्दर लगेगा; इसका यह उपयुक्त स्थान है और इसका यह—(इस प्रकार फूलों को) अच्छी तरह पहचान कर जैसे माली माला बनाता है, उसी प्रकार सावधान बुद्धि से काव्यों में शब्दों का प्रयोग करना चाहिए" :

एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयम्
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय माला
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥

(काव्यालंकार—भामह-१।५६)

इसी तथ्य का आनन्दवर्धन तथा कुंतक ने और भी स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है :

आनन्दवर्धन—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥

'उक्त्यंतर से से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करने वाला, व्यंजनाव्यापारयुक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है।'

(ध्वन्यालोक १।१६)

कुंतक

कुंतक की उक्ति और अधिक प्रभावी है :

> शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
> अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।।

(पर्यायवाची) अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द (कहलाता) है (अर्थात् अनेक पर्यायवाचक शब्दों के होते हुए भी उन सब की अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके केवल वही शब्द काव्यमार्ग में 'शब्द' कहा जाता है)—व० जी० १।६ ।

शैलीविज्ञान के एक प्रसिद्ध व्याख्याकार स्टीफ़न उलमान ने काव्य-शैली में पर्याय-शब्दों की इस चयन-प्रक्रिया को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है : "पर्याय अथवा अर्धपर्याय शब्दों का चयन प्रायः ऐसे कारणों से होता है जिनका संकेतित अर्थ (अभिधार्थ) से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार के निर्वाचन के निर्णायक तत्त्वों का वर्गीकरण कई तरह से किया गया है। अभी कुछ समय पूर्व एक सुझाव यह दिया गया है कि हमें एक ओर पूर्ण पर्यायों, जिनके संकेतित अर्थ तथा रागात्मक अर्थ समान हैं, तथा दूसरी ओर सर्वांगपूर्ण पर्यायों का, जो प्रत्येक सन्दर्भ में एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं, भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। इस प्रकार चार सम्भाव्य वर्ग बन सकते हैं : (१) पूर्ण तथा सर्वांगपूर्ण, (२) पूर्ण किन्तु एकांगी, (३) अपूर्ण किन्तु सर्वांगसंपन्न, (४) अपूर्ण तथा एकांगी।" इसके बाद उन्होंने कॉलिन्सन नामक एक अन्य भाषाविद् के वर्गीकरण का उल्लेख किया है जिसमें कि नौ वर्ग हैं :

१. एक शब्द दूसरे शब्द की अपेक्षा अधिक सामान्य है : इनकार-अस्वीकार।
२. एक शब्द दूसरे की अपेक्षा अधिक तीखा है : खण्डन-इनकार।
३. एक शब्द में दूसरे की अपेक्षा रागतत्त्व अधिक है : अस्वीकार करना—ना करना।
४. एक शब्द में नैतिक गुण-दोष की व्यंजना रहती है, दूसरा सामान्य होता है : मितव्ययी-किफ़ायती।
५. एक शब्द दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यावसायिक (पारि-

भाषिक) होता है : प्राणांत-मृत्यु ।

६. एक शब्द दूसरे की अपेक्षा अधिक साहित्यिक होता है : स्वर्गवास-मृत्यु ।

७. एक शब्द में दूसरे की अपेक्षा बोलचाल का रंग अधिक रहता है : ठुकराना-अस्वीकार करना ।

८. एक शब्द में दूसरे की अपेक्षा स्थानीय रंग अधिक रहता है : बूचड़-कसाई ।

९. दो में एक शब्द बच्चों की भाषा का होता है : तात-पिता ।

उलमान की टिप्पणी है कि यह दूसरा वर्ग अधिक सूक्ष्म है और इनमें से अधिकांश शब्द-युग्मों में चयन का आधार राग-तत्त्व, प्रयुक्ति-क्षेत्र के भेद, तथा किसी-न-किसी अन्य शैलीवैज्ञानिक तत्त्व से सम्बद्ध है ।

यह प्रपंच अधिक सार्थक नहीं है । पहला वर्ग-विभाजन भ्रामक है और दूसरा अपूर्ण है क्योंकि उसमें जिन नौ भेदक आधारों का उल्लेख है उनके अतिरिक्त वैसे ही और भी अनेक आधार हो सकते हैं । इसीलिए यह संख्या बढ़ती जा रही है और उलमान के ही साक्ष्य पर १९६६ में आयोजित एक संगोष्ठी के विचार-विनिमय के फल-स्वरूप पच्चीस तक पहुँच चुकी है । लेकिन इसका काव्य-शैली के विवेचन में कोई ख़ास उपयोग नहीं है । काव्य-शैली के सन्दर्भ में पर्याय-चयन के आधार राग, कल्पना तथा अन्य सौन्दर्य-व्यंजक तत्त्व जैसे श्रुतिपेशलता, अर्थव्यक्ति आदि ही रहते हैं । साहित्यकार यदि सामान्य के स्थान पर पारिभाषिक या बोलचाल के या देशज शब्द का चयन करता है तो उसके पीछे कोई-न-कोई कलात्मक उद्देश्य रहता है —अर्थात् वह अर्थ-संकेत के अतिरिक्त पाठक के मन में किसी रमणीय अर्थ—भाव या बिम्ब की उद्‌बुद्धि करना चाहता है । अतः उसके चयन का क्षेत्र केवल ऐसे ही पर्यायों का समुदाय होता है जिनके संकेतार्थ यानी कोश-व्यवहार-गत अर्थ समान होते हैं, परन्तु राग-कल्पनात्मक अर्थ भिन्न होते हैं । इनमें से वह ऐसे पर्याय का चुनाव करता है जो सन्दर्भ के अनुरूप ऐन्द्रिय (नादात्मक) तथा मानसिक (राग-कल्पनात्मक) बिम्बों की उद्‌बुद्धि कर उसके कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं । अतएव काव्य-शैली के सन्दर्भ में चार, नौ या पच्चीस वर्गों की कोई प्रासंगिकता नहीं है । यहाँ केवल एक ही वर्ग सार्थक है और वह है ऐसे शब्दों का जिनका संकेतार्थ अर्थात्

जिनके द्वारा उद्बुद्ध रूढ़ बिम्ब समान है, किन्तु जिनका राग-कल्पनात्मक अर्थ अर्थात् जिनके द्वारा उद्बुद्ध ऐन्द्रिय तथा / अथवा रागकल्पनात्मक बिम्ब भिन्न है। काव्य या भाषिक कला के क्षेत्र में 'सर्वांगपूर्ण' पर्याय, जो प्रत्येक प्रसंग में समान रूप से प्रयुक्त हो सकें, तो होते ही नहीं, 'पूर्ण पर्याय' भी, जिनके संकेतित तथा रागकल्पनात्मक अर्थ समान हैं, अत्यन्त विरल होते हैं क्योंकि ऐसे पर्यायों का भी नाद-बिम्ब भिन्न होता है। पर्याय-चयन के दो-एक उदाहरण लीजिए—

१. **देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर**
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी। × × ×

(राम की शक्ति-पूजा)

यहाँ पार्वती के स्थान पर आसानी से 'भगवती' पर्याय का प्रयोग हो सकता है। कविता में 'भगवती' शब्द का प्रयोग हुआ भी है : वास्तव में राम जिस साधना की भूमिका बाँध रहे हैं, उसकी परिणति के अवसर पर 'भगवती' ही प्रकट होती हैं :

साधु-साधु साधक धीर धर्मधन धन्य राम।
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।।

फिर भी कवि ने 'पार्वती' शब्द का ही प्रयोग किया है, क्योंकि पर्वत की कल्पना 'पार्वती' ही हो सकती थीं—'भगवती' नहीं। पार्वती और भगवती का संकेतार्थ समान है, किन्तु रागकल्पनात्मक अर्थात् व्युत्पत्ति-जन्य बिम्ब भिन्न है।

२. **अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल**

'अम्बुधि' के स्थान पर 'नीरधि' या 'जलनिधि' भी छन्द में बैठ सकता है, किन्तु 'गर्जन' के साथ अम्बुधि के नाद-प्रभाव की ही संगति बैठती है। यहाँ रुढ़ बिम्ब समान है। किन्तु नाद-बिम्ब के भेद के कारण 'अम्बुधि' शब्द का चयन ही उचित था, 'जलनिधि' अथवा 'नीरधि' का नहीं। यहाँ व्युत्पत्त्यर्थ भी समान है, किन्तु नाद-प्रभाव के भेद के कारण दोनों का परस्पर विनिमय सम्भव नहीं है। अतएव, काव्य-शैली के सन्दर्भ में पर्याय-चयन का कलात्मक मूल्य असंदिग्ध है, किन्तु चयन का प्रभावी आधार प्रायः एक ही रहता है : विवक्षित अर्थ-व्यंजना की क्षमता—अर्थात् सन्दर्भ के अनुरूप श्रोता के चित्त में उचित रागकल्पनात्मक बिम्ब उद्बुद्ध करने की क्षमता। कलाकार अनेक

पर्याय शब्दों में से इसी प्रकार के उचित शब्द का चयन करता है :

शब्दो अनेकार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।'

(व० जी० ६।२)

चयन के क्षेत्र में पर्याय के अतिरिक्त विशेषण, उपमान, समास, वाक्यांश, आदि भी आते हैं। विशेषण और उपमान का चयन एक प्रकार से पर्याय-चयन का ही विस्तार है। यहाँ भी चयन का प्रायः वही आधार रहता है। समास का संबंध रूप-विज्ञान से है : कुशल कवि अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि आदि का अपनी शैली के अनुरूप सार्थक प्रयोग करता है। मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में तत्पुरुष का प्रयोग अधिक है और निराला ने अपनी वक्र शैली के अनुरूप बहुव्रीहि को प्राथमिकता दी है। कुन्तक ने पदपूर्वार्धवक्रता के वृत्ति-वक्रता नामक भेद के अन्तर्गत उपयुक्त समास-चयन का ही निर्देश किया है। उपयुक्त समास-प्रयोग के द्वारा भाषा में गरिमा का समावेश होता है।

शब्द-विन्यास

शैलीविज्ञान में शब्द-विन्यास का भी विशेष महत्त्व है। उचित शब्द का चयन आवश्यक है, किन्तु पर्याप्त नहीं है। सुन्दरतम शब्दों का क्रम-बन्धन भी सुन्दरतम ही होना चाहिए, तभी कला का रूप पूर्ण होता है। यह सुन्दर विन्यास अनेक तत्त्वों पर आधृत रहता है जिनमें वर्ण-साम्य, रूप-साम्य के अतिरिक्त, वैषम्य तथा साम्य-वैषम्य की विविध संयोजनाओं का भी विशेष योगदान रहता है। भारतीय काव्यशास्त्र में शैली के निर्माण में विन्यास के महत्त्व को यथावत् स्वीकार किया गया है। भरत ने इसे 'काव्यबन्ध' कहा है : **'काव्यबंधास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः'**[1] । आनन्दवर्धन ने 'सन्निवेश' तथा 'रचना-प्रपंच' की संज्ञा दी है :[2]

(i) **काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः**

(ii) **विविधवाच्यवाचक-रचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य**···[3]

उनके ही शब्दों में इसका अर्थ है : **शब्द-अर्थ की यथोचित योजना— वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्** ।[4] वामन तथा राजशेखर आदि

१. नाट्यशास्त्र···।

२,३,४. ध्वन्यालोक (चौखम्बा), पृ० ४५; ८७; ४००.

ने इसके लिए 'पाक' शब्द का प्रयोग किया है।

—सहृदयहृदयानां रंजकः कोऽपि पाकः।

(वामन—का० सू० १।२१ अवांतर श्लोक।)

—रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबंधनः पाकः।

(राजशेखर—का० मी० हिन्दी; पृ० ४६)

और भोज ने इसे 'गुम्फना' नाम से अभिहित किया है।

वाक्ये शब्दार्थयोः सम्यग्रचना गुम्फना स्मृता।*

इस प्रकार, भारतीय काव्यशास्त्र में भी आधुनिक शैलीविज्ञान में बहुचर्चित शब्द-विन्यास (टैक्स्चर) को गुण, रीति-वृत्ति तथा अनेक अलंकारों के विवेचन के अन्तर्गत यथोचित महत्त्व प्रदान किया गया है। निपुण शैलीकार प्रसंग के अनुरूप कहीं गाढ़बन्ध का प्रयोग करता है, कहीं शिथिलबन्ध का, कहीं इन दोनों का एकांतर प्रयोग करता है, कहीं आरोह-अवरोह क्रम से पद-विन्यास करता है और कहीं शब्द-अर्थ की इस प्रकार योजना करता है कि पद नृत्य-सा करने लगते हैं। वामन के ओज, प्रसाद, माधुर्य, समाधि, उदारता आदि शब्द-गुण रचना-नैपुण्य के विविध प्रकारों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उधर प्रौढ़ा, परुषा और कोमला वृत्तियों के प्रसंग में वर्ण-संयोजनाओं का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

भाषा के तत्त्व

भारतीय तथा पाश्चात्य भाषाशास्त्र में सामान्यतः भाषा के तीन तत्त्व माने गये हैं—वर्ण, पद और वाक्य। इनके अतिरिक्त एक और भी तत्त्व है—प्रबन्ध, जिसे भारतीय साहित्य में महावाक्य और पाश्चात्य साहित्य में डिस्कोर्स कहा गया है। साहित्यिक शैली के भी भाषिक तत्त्व ये ही हैं और आधुनिक शैलीविज्ञान का भवन इन्हीं के आधार पर निर्मित है। भारतीय काव्यशास्त्र में इनका अत्यन्त सूक्ष्म-विशद विवेचन किया गया है और यह सम्पूर्ण प्रपंच व्याकरण पर आधृत है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के और कुंतक ने वक्रोक्ति के भेदों का विवेचन प्रत्यक्ष रूप से व्याकरण के आधार पर किया है। कुंतक साहित्य के सौन्दर्य का विश्लेषण व्याकरण के अनुसार, भाषा के सूक्ष्मतम तत्त्व

* सरस्वतीकण्ठाभरण (निर्णयसागर), पृ० १८०

'वर्ण' से आरम्भ करते हैं। उच्चारण के स्थान तथा नाद के स्वरूप के अनुसार संस्कृत व्याकरण में वर्णों के स्पर्श, दन्त्य आदि तथा अल्प-प्राण, महाप्राण आदि अनेक वर्ग किए गए हैं। कुंतक ने इनके आधार पर निर्मित कलात्मक संयोजनाओं का वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत बड़ी बारीकी से विवेचन किया है। वर्ण-विन्यास-वक्रता कुन्तक के अनुसार तीन प्रकार की है: इन तीनों प्रकारों का आधार है क्रमशः एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्णों की आवृत्ति और अनेक वर्णों की आवृत्ति। आगे चलकर कुन्तक ने फिर एक अन्य रीति से वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेद किये हैं: "इस (दूसरे प्रकार की वर्ण-विन्यास-वक्रता) के वे कौन से तीन प्रकार हैं, यह कहते हैं। १. वर्गान्त से युक्त स्पर्श। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त के ङ्कार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्तयोगी हैं। इनकी पुनः-पुनः आवृत्ति वर्ण-विन्यास-वक्रता का प्रथम प्रकार है। तलनादयः अर्थात् तकार-लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चरित होकर जहाँ बार-बार निबद्ध हों वह दूसरा प्रकार है। इन दोनों से भिन्न शेष व्यंजन-संज्ञक वर्ण रेफ आदि से संयुक्त रूप में जहाँ निबद्ध हों वह तीसरा प्रकार है। इन सभी भेदों में पुनः-पुनः निबद्ध व्यंजन थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए, यह सबके साथ सम्बद्ध है।'

(हिन्दी वक्रोक्तिजीवित २।२ कारिका की वृत्ति)

वर्ण-विन्यास-वक्रता के ये तीन भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं: (१) जहाँ वर्गान्तयोगी स्पर्शों की आवृत्ति हो, (२) जहाँ त, ल, न आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति हो, और (३) जहाँ इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त वर्णों की रेफ आदि से संयुक्त रूप में आवृत्ति हो।

ये वास्तव में वर्णसंयोजनाओं के विभिन्न रूप-प्रकार हैं। अन्य आचार्यों ने वृत्तियों तथा अनुप्रास-चक्र में इनका अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार भी अनुप्रास में व्यंजनों का ही चमत्कार है और व्यंजनों की संयोजनाओं के प्रकार भी बहुत कुछ ये ही हैं। साहित्य-दर्पणकार ने अनुप्रास की परिभाषा और रूपभेदों का विवेचन इस प्रकार किया है: "स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य (सादृश्य) को 'अनुप्रास' कहते हैं। व्यंजनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने से उसे 'छेक'

अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं। अनेक व्यंजनों की एक ही प्रकार से (केवल स्वरूप से ही, क्रम से नहीं) समानता होने पर, अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति होने पर, यद्वा अनेक प्रकार से (स्वरूप और क्रम दोनों से) अनेक वर्णों की आवृत्ति किंवा एक ही वर्ण की एक ही बार समानता (आवृत्ति, द्वारा) होने पर, या एक ही वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर 'वृत्त्यनुप्रास' नामक शब्दालंकार होता है। तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने-वाले व्यंजनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्था व्यंजन की आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहलाता है। केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है।"

(विमला टीका, पृ० २७५-२७७)

इनके अतिरिक्त उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का भी कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

आगे चलकर कुन्तक ने यमक को भी इसी परिधि में ले लिया है। यमक, यमकाभास अथवा यमक से साम्य रखने वाले अन्य वर्ण-चमत्कार वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं—'समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक, प्रसादगुणयुक्त, श्रुति-मधुर, औचित्य से युक्त (आदि, मध्य तथा अन्त) आदि स्थानों पर शोभित होने वाला जो यमक नामक प्रकार है वह भी इसी का भेद है। (२।६-)'। इसी प्रकार यमकाभास भी वर्ण-विन्यास का ही चमत्कार है जो सहृदयों का हृदयहारी होता है। यमकाभास से अभिप्राय ऐसे वर्ण-चमत्कार से है जिसमें भिन्नार्थक वर्ण-योजना सर्वथा समान न होकर ईषत् भिन्न होती है। उदाहरण के लिए 'स्वस्थाः सन्तु वसन्त' में 'सन्तु' और 'सन्त' की आवृत्ति अथवा 'राजीव-जीवितेश्वरे' में 'जीव' और 'जीवि' की आवृत्ति यमकाभास है। इन्हीं से मिलता-जुलता एक और भी वर्ण-चमत्कार होता है 'जहाँ कहीं-कहीं व्यवधान के न होने पर भी केवल (बीच में आने वाले) स्वरों के भेद से हृदयाकर्षक रचना सौन्दर्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है' (२।३)। यह वर्ण-योजना यमक के गोत्र की होती हुई भी यमक से भिन्न है। यमक में नियत स्थान पर वर्णों की आवृत्ति करने का नियम है पर यहाँ स्थान का कोई नियम नहीं है। यहाँ आवृत्ति वाले वर्ण वे ही

होते हैं, परन्तु बीच में अवस्थित स्वरों का वैषम्य चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ 'केलीकलित', 'कदलदल', आदि में उपर्युक्त प्रकार का चमत्कार लक्षित होता है।

इस प्रकार वर्ण-विन्यास के प्रायः सभी प्रसिद्ध प्रयोगों को कुंतक ने अपनी वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत माना है। अनुप्रास के समस्त भेद, वृत्तियाँ, यमक तथा यमकाभास आदि सभी का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है। फिर भी, वर्ण-सौन्दर्य परिमित नहीं है और न वह स्वतंत्र ही है। वर्णों को कवि-प्रतिभा के अनुसार अनेक संयोजनाएँ हो सकती हैं जिनसे अनेक प्रकार के चमत्कार की सृष्टि होती है। इन सबकी गणना कर वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेदों को परिमित कर देना सम्भव नहीं है।

इसके बाद वर्णों से निर्मित **पद** का विवेचन है। पद के दो अंग हैं—प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति के भी दो रूप हैं—प्रातिपदिक और धातु। सुबंत पद का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कह-लाता है। प्रकृति मूल शब्द है—प्रत्यय में भी अर्थ निहित रहता है जिसके संयोग से मूल अर्थ की सिद्धि हो जाती है। कुंतक ने इसी व्याकरणिक विधान के अनुसार पद-सौन्दर्य के विवेचन को दो भागों में विभक्त कर दिया है: पहले में पदपूर्वार्ध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु रूपों का और दूसरे में पदपरार्ध अर्थात् प्रत्यय से सिद्ध भाषिक रूपों का विश्लेषण किया है। पहले वर्ग के अन्तर्गत आठ मुख्य भेदों का उल्लेख है जिनमें रूढ़ शब्द, पर्याय, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, क्रियाविशेषण, लाक्षणिक शब्द तथा लिंगवाचक शब्द, आदि के कला-त्मक प्रयोगों का मार्मिक विश्लेषण किया गया है। पदपरार्ध-वक्रता के अंतर्गत काल, कारक, संख्या या वचन, पुरुष, उपग्रह या धातुपद, तथा प्रत्यय आदि के प्रयोगजन्य सौन्दर्य का विश्लेषण है। इनके अति-रिक्त पद के दो और भी भेद हैं: उपसर्ग और निपात। उपसर्ग के विषय में वैयाकरणों का यह मत है कि वे मूलतः शब्द ही थे जो घिसते-घिसते अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार उप-सर्ग में भी अर्थ विशेष निहित रहता है। शब्द का मर्मज्ञ शैलीकार इसी निहित अर्थ का सदुप्रयोग करता है। निपात अव्युत्पन्न होने के कारण अवयवरहित है: इसका प्रकृति और प्रत्यय में विभाग सम्भव नहीं है। संस्कृत व्याकरण में पद के ये चार ही भेद माने गए हैं: नाम,

आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमें से नाम, और आख्यात का विवेचन पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध वक्रता के अन्तर्गत और उपसर्ग तथा निपात का क्रमशः उपसर्ग-वक्रता तथा निपात-वक्रता के अंतर्गत अत्यन्त व्यवस्थित रूप से हुआ है। इस सम्पूर्ण विवेचन-विश्लेषण का आधार तो प्रत्यक्ष रूप से भाषाविज्ञान ही है, किंतु शब्दों के व्याकरणिक रूपों और अर्थों में निहित सौन्दर्य-रहस्यों का उद्घाटन काव्यशास्त्र या भाषिक सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर किया गया है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार का वर्ग-विभाजन तथा भेद-विश्लेषण अपने-आप में पूर्ण नहीं है। परन्तु यह तो सभी प्रकार के वर्ग-विभाजन की सीमा है। कुंतक के विवेचन की प्रामाणिकता इस बात से सिद्ध होती है कि उन्होंने उपर्युक्त भेदों का निर्देश करते हुए इन्हें केवल उपलक्षण माना है—ये केवल ईदृक्ता या प्रकार के द्योतक हैं, इयत्ता अथवा सीमा के नहीं। उनका स्पष्ट कथन है : 'यहाँ वक्रता के कुछ प्रमुख भेद उदाहरणार्थ दिखला दिए हैं। और भी सैकड़ों भेद हो सकते हैं। इसलिए सहृदय लोग महाकवियों के प्रवाह में स्वयं देख लें (हि० व० जी०, पृ० ८६)।

भाषा का तीसरा प्रमुख अंग है **वाक्य**। वास्तव में, वाक्य भाषा की मूल इकाई है—इस विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्य एकमत हैं। भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है : **एकं अभिन्नस्वभावकं वाक्यम्**। उधर आधुनिक भाषावैज्ञानिक हॉकेट ने भी वाक्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि वह इकाई होता है अंग नहीं।[1] काव्यशास्त्र के आचार्यों ने व्याकरण की इस अवधारणा को यथोचित् स्वीकार किया है। भामह ने शब्दार्थ के साथ 'सहित'[2] विशेषण लगाकर इसी तथ्य का निर्देश किया है, कुंतक ने सहित रूप से बन्ध में व्यवस्थित शब्दार्थ को काव्य माना है,[3] और विश्वनाथ ने तो तर्कपूर्वक शब्दार्थ के स्थान पर 'वाक्य'[4] का प्रयोग किया ही है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य

१. ए कन्स्टीट्यूट नाट् ए कन्स्टीट्युएंट।
२. शब्दार्थौ **सहितौ** काव्यम्।
३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्···॥
४. **वाक्यं** रसात्मकं काव्यम्।

को उक्ति रूप माना गया है : उसके तीनों प्रकार-भेद—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति[1] उक्ति रूप ही हैं।

वाक्य की परिभाषा रुद्रट ने इस प्रकार की है :

'वाक्य ऐसे शब्दों के आकांक्षा-रहित समुदाय को कहते हैं जो परस्पर व्यपेक्षावृत्ति वाले तथा एकपरक हों।' का० २. ७। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वाक्य ऐसे शब्दों का विधान है जो एक-दूसरे की अपेक्षा करते हों अर्थात् जिनमें तर्कसंगत सम्बन्ध हो तथा जो एक ही वस्तु के वाचन में तत्पर हों अर्थात् परस्पर विरोधी अर्थ का वाचन न करते हों। यह शब्द-विधान ऐसा होना चाहिए कि इसके बाद (श्रोता के मन में) कोई जिज्ञासा अथवा अपूर्णता का भाव न रहे अर्थात् जो एक पूर्ण अर्थ—भाव या विचार खण्ड का वाचक हो। आधुनिक वैयाकरणों ने उपर्युक्त विशेषताओं का पृथक् उल्लेख न कर वाक्य का एक सीधा लक्षण बता दिया है : 'एक पूर्ण विचार व्यक्त करने वाला शब्द-समूह वाक्य कहलाता है।' (गुरु)। पश्चिम के वैयाकरण वाक्य का प्रायः लक्षण एक भिन्न प्रकार से करते हैं : 'उद्देश्य और विधेय से युक्त शब्दसमूह का नाम वाक्य है' जो भर्तृहरि के लक्षण के निकट है : **आख्यातं साऽव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।** अर्थात् वाक्य उस क्रिया का नाम है जिसके साथ अव्यय, कारक, विशेषण का प्रयोग रहता है। यहाँ अव्यय-युक्त आख्यात 'विधेय' है, और विशेषण से युक्त कारक (कर्त्ता) 'उद्देश्य' है।

आनन्दवर्धन ने वाक्य-ध्वनि तथा कुंतक ने वाक्य-वक्रता के अंतर्गत वाक्यगत सौन्दर्य का वर्णन किया है। कुंतक के अनुसार अर्थालंकार-विधान वाक्य-वक्रता का ही प्रपंच है। पूर्ववर्ती आलंकारिक भामह, दण्डी, रुद्रट आदि के विवेचन से भी इस स्थापना की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि अर्थालंकार की सिद्धि प्रायः वाक्य के द्वारा ही हो सकती है। संस्कृत अलंकारशास्त्र में अनेक अलंकारों के नामों में 'उक्ति' पद लगा हुआ है—जैसे अतिशयोक्ति, समासोक्ति, विशेषोक्ति, अन्योक्ति, सहोक्ति आदि। इनके अतिरिक्त अनेक अलंकार ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से वाक्याश्रित हैं—उत्प्रेक्षा, अनन्वय, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, काव्यलिंग, दीपक, उल्लेख, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, असंगति,

१. भोज—वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।

अपह्नुति, विभावना, आदि। किन्तु अन्य अर्थालंकार भी सामान्यतः वाक्य के बिना सिद्ध नहीं हो सकते।

वाक्यगत अलंकार या सौन्दर्य वाक्य के रचना-विधान पर आश्रित रहता है। व्याकरण द्वारा निर्धारित पद-विन्यास-क्रम का प्रयोग सामान्य व्यवहार में होता है, अतः उसमें वैशिष्ट्य नहीं रहता। भाषा का कलाकार इस व्याकरण-सम्मत क्रम से विपथन कर यानी उसमें व्यवधान उत्पन्न कर, चमत्कार की सृष्टि करता है। इस विपथन या 'प्रसिद्ध-व्यतिरेकी' प्रयोग के अनेक प्रकार हो सकते हैं जिनकी गणना करना या जिन्हें संख्या की सीमा में बाँधना संभव नहीं है। फिर भी, भाषा के मर्मवेत्ता समय-समय पर कतिपय प्रकार-भेदों का निर्देश करते रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं वाक्यांगों का क्रम-विपर्यय, समानान्तर प्रयोग, आवृत्ति, समबन्ध, विषमबन्ध, आदि। भारतीय काव्यशास्त्र में कर्ता-क्रिया के सम्बन्ध-परिवर्तन, कारक-रूपों तथा विशेषण-विशेष्य आदि के प्रयोग-व्यतिक्रम के भाषिक चमत्कार का विश्लेषण उपग्रह-वक्रता के अन्तर्गत (जहाँ परस्मैपद और आत्मनेपद—कर्तृवाच्य और कर्म-वाच्य का विपर्यय हो जाता है) कारक-वक्रता (जहाँ कारक-रूपों में फेर-बदल हो जाती है) तथा विशेषण-वक्रता के अन्तर्गत (जहाँ विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध अथवा प्रयोग-क्रम बदल जाता है) हुआ है। दीपक अलंकार के आवृत्ति-दीपक भेद में आवृत्ति का चमत्कार है, उपमा के रसनोपमा, मालोपमा आदि भेदों का सौन्दर्य समानान्तर प्रयोगों पर आधृत है, विरोधमूलक अलंकारों में शब्दार्थ के विषम प्रयोगों के तनाव द्वारा आकर्षण की सृष्टि की जाती है। इनके अतिरिक्त शृंखला-मूलक अलंकारों में भाषिक चमत्कार सम-विषम प्रयोगों के विविध क्रमबन्धों पर आश्रित रहता है।

वास्तव में, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, संस्कृत काव्यशास्त्र में विवेचित अर्थालंकारों का चमत्कार प्रायः वाक्यगत ही होता है। एक ही वर्ग के अनेक अलंकारों का अर्थ या मूल अभिप्राय बहुत कुछ समान होता है, किंतु वाक्य-रचना के भेद से उनके द्वारा उत्पन्न चमत्कार में अन्तर आ जाता है। औपम्य या सादृश्यमूलक अलंकारों के रूपगत विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

उपमा	—	राधा का मुख कमल के समान है।
उपमेयोपमा	—	राधा का मुख कमल के समान है और कमल राधा के मुख के समान है।
अनन्वय	—	कमल कमल ही है, और राधा का मुख राधा के मुख के ही समान है।
रूपक	—	राधा का मुख ही कमल है।
संदेह	—	राधा का मुख है या कमल है।
अपह्नुति	—	राधा का मुख नहीं कमल है।
उत्प्रेक्षा	—	राधा का मुख मानो कमल है।
व्यतिरेक	—	कमल तो पंकसिक्त हैं, किंतु राधा का मुख निष्पंक कमल है।
प्रतीप	—	कमल राधा के मुख के समान है।
स्मरण	—	कमल को देखकर राधा के मुख का स्मरण हो आता है।
अतिशयोक्ति	—	यदि कमल निष्पंक हो जाए तो वह राधा के मुख के समान हो सकेगा।

उपर्युक्त सभी वाक्यों का मूल वक्तव्य या कथ्य एक ही है : राधा का मुख कमल के समान सुन्दर है; किंतु कथन-भंगिमा के भेद से प्रत्येक वाक्य में एक नवीन चमत्कार उत्पन्न हो गया है। प्रस्तुत अर्थ तो यही है कि राधा का मुख सुन्दर है, किन्तु अप्रस्तुत 'कमल' के प्रयोग से उसमें वैशिष्ट्य का समावेश हो गया है। इसके बाद प्रस्तुत और अप्रस्तुत—मुख और कमल के विविध सम्बन्धों की योजना द्वारा वाक्यार्थ में चमत्कार के नाना रूपों का आविर्भाव हो गया है।

वाक्यगत सौन्दर्य पर एक और प्रकार से भी विचार किया जा सकता है। संस्कृत व्याकरण में और उसके आधार पर काव्यशास्त्र में वाक्य के तीन लक्षण माने गये हैं : योग्यता अर्थात् पदों की पारस्परिक तर्क-संगति, एकपरता अथवा एक वस्तु—वाक्यार्थ—के साधन में तत्परता, और निराकांक्षता अर्थात् स्वतःपूर्णता—एक विचार या विचार-खण्ड को पूर्णता का भाव जिससे कि श्रोता या पाठक के मन में तद्विषयक जिज्ञासा शेष न रहे। ये लक्षण लोकशास्त्र-सम्मत 'प्रसिद्ध' वाक्य के हैं। काव्य में अनेक बार इनका उल्लंघन करके भी चमत्कार की सृष्टि की जाती हैं। उदाहरण के लिए 'योग्यता' के

व्याघात रूप में विश्वनाथ ने जो उद्धरण प्रस्तुत किया है : 'अग्नि से सींचता है' वह काव्य में सिद्ध होकर अर्थ-चमत्कार की सृष्टि कर सकता है :

कैसा अद्भुत दान प्रेम का है इस मन को !
विरह-अग्नि से नित्य सींचता है जीवन को ।।

विभावना के पंचम भेद में अर्थ-चमत्कार का आधार यही है—विरुद्ध कारण से कार्य की सिद्धि :

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन ।
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन ।। (पंत)

इसी प्रकार, 'एकपरता' अर्थात् वाक्यगत पदों की एक ही अभिप्राय के प्रति तत्परता तथा 'निराकांक्षता' अथवा कथ्य-विषयक जिज्ञासा के शमन का अनुबंध भी काव्य में प्रायः भंग हो जाता है। 'श्लेष' के अनेक भेद ऐसे हैं जिनमें अनेकपरता अर्थात् अनेक सन्दर्भों की व्यंजना से चमत्कार उत्पन्न होता है। और, यही 'निराकांक्षता' के विषय में भी सत्य है : काव्य में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ उक्ति के द्वारा जिज्ञासा का परितोष न होकर उद्बोध होता है। गूढ़ार्थ-प्रतीति-मूलक अलंकारों का चमत्कार प्रायः जिज्ञासा की उद्दीप्ति में ही निहित रहता है। कुंतक ने 'संवृति-वक्रता' में अनिश्चयवाचक सर्वनाम आदि के द्वारा चमत्कार की सृष्टि का निर्देश कर इसी तथ्य को रेखांकित किया है।

पश्चिम के शैलीवैज्ञानिकों ने इसी दृष्टि से काव्य-भाषा को अतर्क्य या अतर्कित तथा अव्याकरणिक कहा है।

वाक्य के बाद भाषिक विधान का सबसे बड़ा घटक है **प्रबन्ध,** जिसकी रचना परस्पर सम्बद्ध अनेक वाक्यों के समुदाय से होती है। प्रबन्ध का लघुतम रूप है प्रकरण और बृहत्तम रूप है महाकाव्य जिनके रचना-सौंदर्य का विवेचन कुंतक ने क्रमशः प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता में किया है। भारतीय गद्य-साहित्य में इनके समानांतर रूप हैं दृष्टांत, कथा, आख्यायिका आदि और पाश्चात्य साहित्य में दृष्टांत, उपन्यास, कहानी आदि। आधुनिक भाषाविज्ञान में इन प्रबन्ध-रूपों को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है। ओहमान आदि इस बात पर अड़े हुए हैं कि भाषिक इकाई केवल वाक्य ही है और इस प्रकार सभी प्रकार का भाषिक विधान वाक्य तक ही सीमित है।

उनका निर्भ्रान्त मत है कि शैली का विवेचन वाक्य-रचना का ही विवेचन है, और कुछ नहीं ।[1] लेकिन हिलमैन तथा ऐंक्विस्ट आदि की धारणा है कि शैली वाक्य की सीमा का अतिक्रमण करती है और उसके लिए अंतर्वाक्यीय भाषिक विधान का अध्ययन भी आवश्यक है। भाषावैज्ञानिकों ने अपने क्षेत्र में इस प्रकार के बृहत्तर भाषिक विधान का अध्ययन करने के लिए सन्दर्भ-व्याकरण[2] तथा बृहत्तर भाषाविज्ञान[3] की कल्पना की है। भारतीय व्याकरण में, और उसके आधार पर काव्यशास्त्र में इस समस्या का समाधान बहुत पहले ही कर लिया गया था। उनकी भी मूल धारणा यही थी कि भाषा की मूल इकाई वाक्य ही है। फिर, प्रबन्ध क्या है? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि प्रबन्ध महावाक्य है। जिस प्रकार वर्णों के संघात का नाम पद है और पद के संघात का नाम वाक्य है, इसी प्रकार वाक्यों के संघात का नाम महावाक्य है। स्फोट सिद्धान्त ने तात्त्विक स्तर पर इस धारणा की पुष्टि की। वर्ण का ज्ञान वर्ण-स्फोट के द्वारा, पद का ज्ञान पद-स्फोट के, वाक्य का ज्ञान वाक्य-स्फोट के और प्रबन्ध या महावाक्य का ज्ञान प्रबन्ध-स्फोट के द्वारा सिद्ध होता है। जिस प्रकार पद के अंगभूत वर्णों में से प्रत्येक पूर्ववर्ती वर्ण के संस्कार अपने परवर्ती वर्ण के साथ संयुक्त होकर पद-स्फोट की सृष्टि करते हैं और जिस प्रकार वाक्य के अंतर्गत प्रत्येक पूर्ववर्ती पद के संस्कार परवर्ती पद के साथ संयुक्त होकर एक समग्र वाक्य-स्फोट की सृष्टि करते हैं, इसी प्रकार प्रबन्ध के अंतर्गत प्रत्येक पूर्ववर्ती वाक्य के संस्कार अपने परवर्ती वाक्य के साथ सम्बद्ध होकर महावाक्य-रूप प्रबन्ध-स्फोट की सृष्टि करते हैं।

वाक्योच्चयो महावाक्यम्—
(योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव।)

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम्॥

इत्थमिति वाक्यमहावाक्यत्वेन। उक्तं च—
'स्वार्थबोधे समाप्तानामंगांगित्वव्यपेक्षया।

१. देखिए, 'लिटरेचर एज़ सेन्टेन्सेज़'
२. डिस्कोर्स ग्रैमर
३. मैक्रो-लिंग्विस्टिक्स

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥' इति ।

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहं…'

इत्यादि । महावाक्यं यथा—रामायणमहाभारतरघुवंशादि ।

'आकांक्षादियुक्त वाक्यों के समूह को महावाक्य कहते हैं । इत्थमिति—इस प्रकार वाक्य के दो भेद हुए । एक वाक्य, दूसरा महाकाव्य । महावाक्य की सत्ता में प्रमाण देते हैं—स्वार्थेति—अपने-अपने अर्थ का बोधन करके समाप्त हुए वाक्यों का, अंगांगिभाव संबंध से, फिर मिलकर एक वाक्य (महावाक्य) होता है । उनमें वाक्य का उदाहरण 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि है और महावाक्य का रामायण, महाभारत, रघुवंशादिक ।

[साहित्यदर्पण (विमला टीका) २।१]

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रबन्धगत भाषिक विधान अथवा संदर्भगत शैली के विवेचन की एक अन्य विधि का भी निर्देश है । आधुनिक भाषाविज्ञान तथा उसके प्रभाव से शैलीविज्ञान में, वाक्य की सीमा से आगे, काव्य के क्षेत्र में पद्य-बंध, स्फुट काव्यकृति, कथाकाव्य, महाकाव्य आदि की, और गद्य के क्षेत्र में अनुच्छेद, निबंध, कहानी, उपन्यास आदि की शैली का अध्ययन करने के लिए जिस संदर्भ-व्याकरण[1] तथा संदर्भपरक शैलीविज्ञान[2] का विकास हो रहा है, उसकी प्रकल्पना भारतीय व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र के लिए नयी नहीं है । भर्तृहरि ने अर्थ-निर्णय के कारणों का निर्देश करते हुए लिखा है :

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

१. संयोग, २. विप्रयोग, ३. साहचर्य, ४. विरोधिता, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिंग, ८. अन्य शब्द की सन्निधि, ९. सामर्थ्य, १०. औचित्य, ११. देश, १२. काल, १३. (पुंलिंग, स्त्रीलिंग आदि रूप) व्यक्ति और १४ स्वर आदि, (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का

१. डिस्कोर्स ग्रैमर
२. डिस्कोर्स स्टाइलिस्टिक्स

निर्णय न होने पर, विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं।

(हिन्दी-काव्यप्रकाश; भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर;
प्र० सं०; पृ० ७७)

उपर्युक्त विवेचन से प्रेरणा ग्रहण करते हुए मम्मट ने आर्थी व्यंजना के प्रसंग में व्यंग्यार्थ की प्रतीति करानेवाले १० कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया है :

वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यर्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

(३।३७)

(सू० ३७),—१. वक्ता, २. बोद्धा, ३. काकु, ४. वाक्य, ५. वाच्य, ६. अन्यसन्निधि, ७. प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, १०. आदि के वैशिष्ट्य से (प्रतिभावानों) सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति करानेवाला अर्थ का जो व्यापार होता है वह 'आर्थी व्यंजना' ही (कहलाता) है।

(हिंदी-काव्यप्रकाश; भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर;
प्र० सं०; पृ० ८२)

यहाँ इस तथ्य की सर्वथा स्पष्ट स्वीकृति है कि भाषिक व्यापार के लिए एक पूरे संदर्भ की अपेक्षा होती है जिसके मुख्य घटक हैं : वक्ता, बोद्धा, विषय, देश-काल, प्रकरण, वक्ता की स्वर-भंगिमा आदि। इस प्रकार, भाषा के प्रसंग में संदर्भ (डिस्कोर्स) की कल्पना भारतीय वाङ्मय में पुराकाल से चली आ रही है और यूरोप के लिए भी यह नयी नहीं है। डिस्कोर्स का अर्थ है संवाद, प्रवचन। प्रवचन में वक्ता एक विशेष देशकाल या परिस्थिति में कुछ श्रोताओं के प्रति विशेष स्वर-भंगिमाओं से किसी विषय का प्रतिपादन करता है। इसके लिए वह वाक्य की सीमा से आगे बढ़कर वाक्य-समूह अर्थात् परस्पर-सम्बद्ध एकार्थपरक अनेक वाक्यों का प्रयोग करता है। लेखन में इसी आधार पर अनुच्छेद, निबंध, प्रबंध आदि की और आधुनिक भाषाविज्ञान में इसी आधार पर संदर्भ-भाषा की प्रकल्पना हुई है। संदर्भपरक शैलीविज्ञान अर्थ के इन नियामक हेतुओं—वक्ता, बोद्धा, वाच्य (विषय), काकु, संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, प्रकरण, देश-काल आदि के आधार पर ही तो वाक्य-समूह द्वारा निर्मित महा-

वाक्य रूप,[1] साहित्यिक कृतियों की शैली का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

प्राचीन आलंकारिकों ने भी अपने ढंग से इस समस्या पर विचार किया है। दण्डी ने अलंकारों के दो वर्ग किये हैं : सामान्य और विशेष। प्रसिद्ध अलंकार विशेष अलंकार हैं : सामान्य अलंकारों में एक ओर वैदर्भ तथा गौड़ीय मार्गों के श्लेष, प्रसाद आदि गुण और दूसरी ओर सन्धि, सध्यंग, वृत्ति, लक्षणा आदि का अंतर्भाव है।[2] इनमें संधि, सध्यंग आदि नाटकादि प्रबंधकाव्य के सौन्दर्य-विधायक तत्त्व हैं। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, धनंजय, विश्वनाथ आदि आचार्यों के अनुसार सामान्यतः ये वस्तु-विधान के अंग हैं जिनके द्वारा प्रबंध कवि अपनी कथावस्तु का रोचक रीति से विन्यास करता है : "अभीष्ट वस्तु की रचना, आश्चर्य की प्राप्ति (कुतूहल की सृष्टि), कथा का विस्तार, अनुराग की उत्पत्ति, प्रयोग के गोपनीय अंशों का गोपन और प्रकाशनीयों का प्रकाशन—अंगों का यह छह प्रकार का फल होता है।"[3] किंतु दण्डी आदि अलंकारवादी इन्हें अलंकार अर्थात् शब्दार्थ के धर्म मानते हैं : उनके अनुसार ये वस्तु-विधान के अंग होने पर भी वस्तुतः भाषिक विधान के ही अंग हैं। इनका तर्क यह है कि यद्यपि ये प्रयोग विविध प्रकार से कथा के अंगों को सुश्लिष्ट कर वस्तु-विन्यास में रोचकता उत्पन्न करते हैं, फिर भी इनका आधार वाचिक ही रहता है अर्थात् संधि-सध्यंग आदि का विधान प्रायः पात्रों की उक्तियों के आधार पर ही तो होता है। केवल एक—गर्भसंधि के—उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है :

"पूर्वसंधियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फलप्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो उसे गर्भसंधि कहते

१. वाक्योच्चयो महावाक्यम्। सा० द० २।३/२

२. यच्च सध्यंग-वृत्यंगलक्षणाद्यगमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः ॥ काव्यादर्श २।३६७

३. इष्टार्थरचनाश्चर्यलाभो वृत्तान्तविस्तरः ॥११६
रागप्राप्ति प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामंगानां षड्विधं फलम् ॥ ११७ ॥
(विश्वनाथ—सा० द०, षष्ठ परिच्छेद)

हैं। फल को भीतर रखने के कारण इसे गर्भ कहते हैं। जैसे 'रत्नावली' के द्वितीय अंक में "सखि, अदक्षिणा इदानीमसि त्वम्, या एवम् भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि' इस सुसंगता की उक्ति से ह्रास हुआ है। तृतीय अंक में 'तद्वार्ते', इत्यादि राजा की उक्ति से अन्वेषण सूचित हुआ है। एवम् 'ही ही—आश्चार्य भोः, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषो यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति' इस विदूषक की उक्ति में फिर उद्भेद है।"

[सा० द०, (विमला टीका) द्वितीयावृत्ति; पृ० १८५]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में निर्वहण संधि के अंतर्गत अभिज्ञान का (जो कथा की परिणति तथा फलागम का कारण है), एक प्रमुख आधार निम्नोक्त वाक्य-चमत्कार है :

'शकुन्तलावण्यं पश्य'—देख, कितना सुन्दर मोर (खिलौना) है! इस वाक्य को सुनकर भरत तत्काल अपनी माता शकुन्तला के बारे में प्रश्न कर उठता है : "कहाँ है मेरी माँ—शकुन्तला ?" जिससे दुष्यंत को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाता है और कथा की ग्रंथि खुलने लगती है। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के भेदों का विवेचन करते हुए इस प्रकार के और भी अनेक उद्धरण दिए हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत वाक्य की परिधि से आगे, प्रबंध-विधान के बृहत्तर क्षेत्र में भी भाषिक आधार के महत्त्व को मुक्त भाव से स्वीकार किया गया है।

दण्डी आदि का यह शब्दार्थवादी सिद्धांत आगे चलकर यथावत् स्वीकार नहीं हुआ। आनन्दवर्धन आदि गम्भीरचेता आचार्यों ने सम्पूर्ण प्रबंधकौशल को केवल भाषिक विधान मानने से इनकार कर दिया और वास्तव में यही उचित भी था। फिर भी, यहाँ हमने इस प्रसंग का उल्लेख यह सूचित करने के लिए किया है कि भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा में भी आचार्यों का एक ऐसा वर्ग रहा है जो समस्त काव्य-विधान को केवल भाषिक कला ही मानता है।

काव्य के भाषिक सम्प्रदाय

भारतीय साहित्यशास्त्र में तीन संप्रदाय ऐसे हैं जिन्हें निश्चित रूप से काव्य के भाषिक संप्रदाय कहा जा सकता है : अलंकार, रीति और वक्रोक्ति। अलंकार संप्रदाय के अनुसार काव्य-सौन्दर्य के मूल कारण

हैं अलंकार, जो शब्द-अर्थ के धर्म हैं। अलंकार का प्राण है वक्रता अथवा अतिशय जिसका आधार है शब्द-अर्थ का लोकातिक्रांत प्रयोग अर्थात् ऐसा प्रयोग जो, लोक-व्यवहार के सामान्य प्रयोग से वैचित्र्य के कारण, विदग्ध श्रोता के चित्त को चमत्कृत करता है। इस प्रकार, अलंकार सिद्धांत का रहस्य है मानक भाषा से विपथन—हर तरह का नहीं, वरन् ऐसा विपथन जिसमें चमत्कार हो। रीति-सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा है गुणों से युक्त—सामान्य भाषा में—शब्द और अर्थ के सौंदर्य से मंडित, पदरचना। वामन ने गुणों को अर्थात् शब्द-अर्थ के कर्मविन्यास तथा गुम्फन को काव्य का नित्य धर्म माना है और प्रसिद्ध अलंकारों—शब्द-अर्थ के चमत्कार-रूपों को अनित्य धर्म। इस प्रकार अलंकार और रीति, दोनों ही सम्प्रदाय, काव्य को सर्वथा भाषिक कला मानते हैं : भेद केवल प्रक्रिया एवं प्रविधि का है : एक में चमत्कार पर बल है और दूसरे में विन्यास पर। आधुनिक शैलीविज्ञान के समान, ये दोनों सम्प्रदाय भी काव्य में भाषिक कला अथवा प्रयोग-नैपुण्य से आगे किसी अन्य तत्त्व का संधान नहीं करते। वक्रोक्ति सिद्धांत भी स्वीकृत रूप से भाषिक आधार को लेकर चलता है क्योंकि वक्रोक्ति अथवा उसकी पर्याय 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' या 'विचित्र अभिधा' वचन-भंगिमा अथवा भाषिक प्रयोग-विधि का ही प्रतिरूप है। इसी धारणा के अनुसार वक्रता के पहले चार भेद—वर्ण-विन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, पदपरार्ध-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता एकांत भाषिक चमत्कार हैं और भाषा के व्याकरणिक रूपों को आधार मानकर चलते हैं। इनके आगे, प्रकरण-वक्रता तथा प्रबंध-वक्रता में भी, विशेषकर प्रकरण-वक्रता के कतिपय रूपों में, प्रायः उक्ति का चमत्कार निहित रहता है। फिर भी, इन दोनों भेदों में वक्रता या सौन्दर्य का विधान भाषा की सीमाओं को पार कर रस, भावार्थ, वस्तु-तत्त्व आदि के आश्रय से सम्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त, कुन्तक ने वस्तु-वक्रता की पृथक् सत्ता को स्वीकार कर काव्य-सौन्दर्य के भाषेतर आधार को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की है। अतएव कुन्तक का दृष्टिकोण निश्चय ही अधिक व्यापक है। वे काव्य को भाषिक कला मानते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं; लेकिन उनकी कलादृष्टि भाव, विचार तथा विधायक कल्पना को स्वीकार कर भाषिक भूमिका से ऊपर उठ जाती है, यह तथ्य भी उतना ही स्पष्ट

एवं निर्विवाद है ।

उपर्युक्त तीनों सम्प्रदाय, रूढ़ शब्दावली में, देहवादी सम्प्रदाय माने गये हैं । इनसे भिन्न ध्वनि तथा रस, जिनमें भाषेतर या भाषोत्तर तत्त्व—कल्पना-रमणीय विचार अथवा अनुभूति—केन्द्रीय मूल्य के रूप में विद्यमान रहता है, आत्मवादी सम्प्रदाय हैं । यह वर्ग-विभाजन निश्चय ही तात्त्विक नहीं है क्योंकि न तो गुणालंकार में रमणीय अर्थ का अभाव रहता है और न रस-ध्वनि की मूर्त सत्ता ही भाषा के बिना संभव है, फिर भी भाषिक चमत्कार तथा भाव-सौंदर्य की सापेक्षिक मूल्यवत्ता के आधार पर, व्यावहारिक दृष्टि से, इसकी अपनी उपादेयता हैं । सामान्यतः अलंकार तथा रीति का बल काव्य के शब्दार्थ रूप शरीर पर है, ध्वनि तथा रस का उसमें अंतर्व्याप्त भावचैतन्य पर और वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थिति मध्यवर्ती है—शब्दार्थ पर केन्द्रित होने पर भी वह अन्त में उसका अतिक्रमण कर जाता है ।

ध्वनि-सिद्धांत का, जैसा कि पूर्व-प्रसंग में निर्देश किया जा चुका है, स्रोत है व्याकरण : ध्वनि की मूल कल्पना का आधार है स्फोट सिद्धांत, और उसके विविध भेदों की कल्पना के आधार हैं वर्ण, सुबंत और तिङन्त पद, कारक, वचन, लिंग, उपसर्ग, निपात, वाक्य, आदि व्याकरणिक रूप । इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र से परिचित कुछ विद्वानों ने शैलीविज्ञान का ध्वनि-सिद्धांत के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया है । किंतु यह स्थापना एक सीमा तक ही मान्य है : ध्वनि की अपेक्षा शैलीविज्ञान का संबंध अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के साथ अधिक घनिष्ठ है । ध्वनि का अर्थ है वाच्यातिशायी अर्थात् वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्यार्थ—काव्य के शब्द-विधान द्वारा व्यंजित ऐसा अर्थ जो सामान्य अर्थ की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी हो—जो सहृदय की चेतना का अधिक अनुरंजन करता हो । सिद्धान्ततः तो यह अर्थ अलंकार, वस्तु (विचार) या भाव रूप होता है, किन्तु अन्ततः अलंकार और वस्तु या विचार का भाव में ही पर्यवसान हो जाता है। अतएव ध्वनि-सिद्धांत का केन्द्र-बिन्दु है रचना का मूल अर्थ : वह कृति के भाषिक सौन्दर्य के मूल में निहित कलात्मक प्रयोजन या प्रेरक भावना का संधान करता है । इस प्रकार, वह भाषिक आधार पर स्थित होते हुए भी शैलीविज्ञान की वस्तुगत

सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। उसका लक्ष्य भाषिक विधान का चमत्कार न होकर उसमें निहित अर्थ यानी भाव-विचार का सौन्दर्य ही है :—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।।ध्वन्यालोक—१-७।।

उस रमणीय प्रतीयमान अर्थ की शब्दार्थ के शास्त्रीय ज्ञान मात्र के आधार पर प्रतीति नहीं होती। उसकी प्रतीति तो काव्य-मर्मज्ञों को ही होती है।

रस-सिद्धांत में वस्तुतत्त्व अपेक्षाकृत कम है और उसी अनुपात से भाषिक आधार भी गौण है। किंतु भाषा या शब्दार्थ के बिना रस की सिद्धि संभव नहीं है, अतः भाषा की भूमिका यहाँ भी अनिवार्य है। रस निर्विघ्न अर्थात् व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त भाव की प्रतीति का नाम है। भाव की यह निर्विघ्न प्रतीति शब्दार्थ के विशिष्ट—गुणालंकार-युक्त) प्रयोग के माध्यम से होती है : कला के माध्यम-उपकरणों के अतिरिक्त अन्य साधनों से जैसे भक्ति, ध्यान, आदि के द्वारा निष्पन्न निर्विघ्न प्रतीति, पारिभाषिक अर्थ में, रस नहीं है। इस प्रकार, शब्दार्थ की भूमिका इसके लिए भी अनिवार्य है। किंतु रस शब्दार्थ में निहित नहीं है—शब्दार्थ या भाषा रस का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त के विचार इसके प्रमाण हैं। भट्टनायक के मत से अभिधा यानी सामान्य व्यवहार-भाषा कवि-प्रतिभा के द्वारा गुणालंकारसम्पदा से युक्त होकर भावकत्व की —अर्थात् विभावादि को साधारणीकृत रूप में उपस्थित करने की शक्ति प्राप्त कर लेती है। सहृदय जब देशकाल के बंधन से मुक्त इन सार्वभौम रूपों का भावन करता है तो उसकी चेतना विशद हो जाती है और प्रस्तुत काव्य-प्रसंग से उद्बुद्ध उसका भाव व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर रस में परिणत हो जाता है। इस प्रकार, रस के दो स्तर हैं : कवि का स्तर और सहृदय का स्तर। कवि अपनी प्रतिभा—संवेदन-शक्ति और सर्जक कल्पना के द्वारा शब्दार्थ अथवा भाषा को अपनी अनुभूति से गर्भित कर ऐसी क्षमता प्रदान कर देता है कि वह सहृदय की संवेदना और कल्पना को उद्बुद्ध कर उसके चित्त में समान अनुभूति जगा सके। अतः, भाषा एक ओर तो कवि के अंतर्गत भाव या रस के सम्प्रेषण का माध्यम है, और दूसरी ओर सहृदयगत रस की

अभिव्यक्ति का प्रेरक या निमित्त कारण। दोनों स्तरों पर वह माध्यम या निमित्त ही है; इसलिए उसकी भूमिका यहाँ उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि अन्य सम्प्रदायों के अंतर्गत।

व्यावहारिक समीक्षा में काव्य-तत्त्व का भाषिक विश्लेषण

प्रचलित धारणा यही है कि भारतीय वाङ्मय में व्यावहारिक समीक्षा की कोई सुदृढ़ परम्परा नहीं है, और यह धारणा ग़लत नहीं है। व्यापक अर्थ में, समीक्षा के अंतर्गत साहित्य के भाषिक विश्लेषण के अतिरिक्त वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण, देशकाल, दार्शनिक आधार आदि अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों का सम्यक् विवेचन रहता है। भारतीय समीक्षा में निश्चय ही इन सभी रूपों का अभाव है। किंतु आधुनिक शैलीविज्ञान जिस भाषिक विश्लेषण को साहित्यिक अध्ययन का अथ और इति मानकर चलता है, वह भारतीय वाङ्मय में प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसके आधार-स्रोत दो हैं : (१) अलंकार-ग्रंथ और (२) साहित्यिक टीकाएँ। अलंकार-ग्रंथों में काव्य के दशांग—अर्थात् गुण, दोष, अलंकार, शब्द-शक्ति, वक्रता, ध्वनि आदि के विवेचन के अंतर्गत लक्षण और लक्ष्य के संगति-सूत्रों के संधान तथा सूक्ष्म-भेद-प्रभेदों के प्रस्तार-क्रम में भाषिक विश्लेषण के अपूर्व प्रमाण मिलते हैं। दो-चार उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि के लिए पर्याप्त होंगे :

(१) वर्ण-सौंदर्य का विश्लेषण—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूतांकुर—
क्रीडत्कोकिलकाकली कलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वरा: ।
नीयन्ते पथिकै: कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण—
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासरा: ।।

"उदित होते हुए मधु के गंध-लुब्ध भ्रमरों से कम्पित आमों की नवीन मंजरी पर क्रीड़ा करते हुए कोकिलों के मधुर-मधुर सुरीले कल-कूजितों से जिनके कानों में व्यथा उत्पन्न हो रही है वे विरही पथिक इन वसंत ऋतु के दिनों को, ध्यान में, चित्त के अवधान (एकाग्रता) के समय प्राप्त (स्मरण द्वारा), प्राणप्रिया के समागम सुख से जैसे-तैसे (कथं कथमपि) बिताते हैं।"—यहाँ 'रसोल्लासैरमी' इन शब्दों में 'र' और 'स' की एक ही प्रकार से समानता है। केवल स्वरूप ही मिलता है, क्रम नहीं। दूसरे चरण में 'क' और 'ल' की अनेक बार

आवृत्ति हुई है और उसी क्रम से हुई है। सभी शब्दों में पहले 'क' आया है, पीछे 'ल', इसलिए यह स्वरूप और क्रम दोनों से साम्य (अनेकधा) हुआ। प्रथम चरण में 'उन्मीलन्मधु' यहाँ एक व्यंजन मकार की एक ही बार और धकार की अनेक बार आवृत्ति हुई है।"

[साहित्यदर्पण (विमला टीका); प्र० सं०; पृ० २७६]

(२) पद-सौन्दर्य का विश्लेषण—

निपात के प्रयोग में चमत्कार—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥

'अंगुलियों से निचले होठ को ढके हुए, न, न, मान जाओ, मान जाओ, इस प्रकार के निषेध करने वाले अक्षरों से व्याकुल और इसलिए सुन्दर लगने वाला, कन्धे की ओर मुड़ा हुआ (शकुन्तला का) मुख (मैंने) किसी प्रकार (बड़े प्रयत्न से) ऊपर तो उठा लिया पर चूम नहीं पाया।' इस पर कुन्तक की टिप्पणी है : यहाँ प्रथम (बार के दर्शन के समय उत्पन्न) अभिलाष से विवश (चित्त) वृत्ति वाले (दुष्यंत के उस प्रथम मिलन के समय) के अनुभव की स्मृति से, उस समय के योग्य मुखचन्द्र का सौन्दर्य जिसके हृदय पर अंकित है इस प्रकार के नायक (दुष्यंत) के, पहली बार चुम्बन में चूक जाने से उद्दीप्त पश्चात्ताप के आवेश का द्योतन करने वाला 'तु' शब्द किसी अपूर्व 'वक्रता' को उत्तेजित करता है।

(हिंदी-वक्रोक्तिजीवित; प्र० सं०; पृ० २२८)

(३) संख्या या वचन के विपथन द्वारा उत्पन्न चमत्कार

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटी ।
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥

हे प्रियतमे, (तुम्हारे) गालों पर बनी हुई पत्रलेखा को (तुम्हारे पुंल्लिग हाथों ने मल डाला, अमृत के समान स्वादु, तुम्हारे अधरामृत को (एक नहीं बहुत से पुंल्लिग) निःश्वासों ने पी डाला और यह (पुंल्लिग) आँसू बार-बार, गले में लग-लगकर (तुम्हारे) स्तन को हिला रहे हैं। हे (हमारी) प्रार्थना को न मानने वाली (निरनुरोधे प्रियतमे), तुम्हें क्रोध तो इतना प्यारा हो गया (कि उसके आवेश में कोई तुम्हारे

कपोल की पत्रलेखा को मसल रहा है, कोई तुम्हारा अधरामृत पान कर रहा है) पर हमारी कहीं कोई पूछ नहीं।

यहाँ 'मैं तो नहीं' (प्रिय हुआ) यह कहने के स्थान पर (बहुवचन रूप) 'हम तो नहीं' (इस प्रकार उनके) अंतरंगत्व ज्ञापन के लिए और (अपनी) तटस्थता (औदासीन्य) का बोध कराने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है। (इसलिए यह वचन-वक्रता या संख्या-वक्रता का उदाहरण होता है)।

(हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित; प्र० सं०; पृ० २७८)

अब प्राचीन टीकाओं में काव्य-शैली के भाषिक विश्लेषण का एक उदाहरण लीजिए : राघवभट्ट (१४वीं शती) ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के एक प्रसिद्ध छंद का विश्लेषण इस प्रकार किया है :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

"राजा—इस (शकुन्तला) के यौवन के अनुरूप वल्कल वस्त्र यद्यपि नहीं है, तथापि अलंकार से प्राप्त होने वाली शोभा को पुष्ट नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि—

शैवलेन—जलनीली (सिवार) के द्वारा भी—'जलनीली' अर्थ में शैवाल (नपुं०), शैवल (पुं०) होते हैं यह अमर (कोश का वचन) है। **विद्धम्**—वेधित (बींधा हुआ)—'विद्ध शब्द वेधित, क्षिप्त, समान अर्थ में है' यह हैम (कोश का कथन) है। प्रकृत में वह अर्थ सम्भव नहीं है, अतः लक्षणा से 'सम्बद्ध' अर्थ प्रकट किया जाता है। उस (सम्बद्ध) की अधिकता व्यंग्य (प्रयोजन) है। उसी का यहाँ नैरन्तर्य-वाचक **अनु** के द्वारा पुनः कथन किया जाता है। क्योंकि जिस प्रकार 'अनुध्यायति' (निरन्तर अत्यधिक ध्यान करता है) कथन में है, वैसे ही नैरन्तर्य अर्थ में उस अनु) का प्रयोग हुआ है। **सरसिजम्**=कमल, **रम्यम्**=रमणीय होता है।

(**'अनुविद्धम्' की आवश्यकता** (प्रश्न)—पहले और अंतिम (तीसरे पाद के) वाक्यों में (शैवलेन और वल्कलेन की) तृतीया विभक्ति से 'अनुविद्ध' का अर्थ आ जाता है, बीच वाले (द्वितीय पाद के) वाक्य में इसकी आकांक्षा नहीं है, अतः 'अनुविद्धम्' पद फालतू है;

यदि यह कहते हैं, तो **उत्तर**—नहीं; उपमेय (वल्कलेन) के विषय में 'अतिपिनद्ध' (द्र० इससे पूर्व शकुन्तला का कथन : सहि अणसूए, अदिपिणद्धेण वक्कलेण पियंवदाए णिअन्तिदम्हि) इत्यादि कथन से वह प्रकट है। मध्यवर्ती (द्वितीय पाद के) वाक्य में तो चिह्न (कलंक) चन्द्रमा के शरीर के अन्तर्गत है, यह बात प्रसिद्ध ही है; इसलिए दोनों (दूसरे और तीसरे पादों के) वाक्यों में उसे (अनुविद्धम् को) कहने की अपेक्षा नहीं है। इसके विपरीत यहाँ (प्रथम पाद में) कमल चाहे अलग किया हुआ हो, या तालाब में ही हो, वह सिवार के बिना नहीं है, अतः उसे सिवार से अनुविद्ध ठीक ही कहा है। (चूँकि यहाँ वह विधेय है) इसलिए ही विशेषण (और विशेष्य) का क्रम भंग नहीं हुआ है।

हिमांशोः=चन्द्रमा का मलिन कलंक लक्ष्मी को=शोभा को बढ़ाता है, अर्थात् चन्द्रमा की ही (शोभा को बढ़ाता है)। यहाँ (१) उपमान के अकर्तृत्व से कर्तृप्रक्रमभंग होता है; (२) और कलंक की उपमान के रूप में प्रतीति के कारण अकथनीय (निन्द्य) को कहा गया है; और (३) वह जब उपमान है, तब दूसरे (किसी) के साथ सम्बद्धता का कथन नहीं किया गया है, इसलिए कथनीय को कहा गया है; (४) 'कलंक' (लक्ष्म) कहने से ही मलिनता सिद्ध हो जाती है, उसे 'मलिन' कहने से अपुष्टार्थ नामक दोष है; (५) 'हिमांशु का कलंक' इस प्रकार संबंध करने पर 'लक्ष्मी को बढ़ाता है' कथन में दूसरे संबंधी की आकांक्षा रहती है; 'लक्ष्मी को बढ़ाता है हिमांशु की—इस प्रकार संबंध करने पर 'कलंक' शब्द साकांक्ष रहता है; इसलिए संबंध करने में कष्ट (दोष) होता है; (६) 'हिमांशोः' पद को दुहराने पर अन्वय-बाध आदि कारण न होने के कारण, तथा विद्यमान शब्द का अन्य शब्द के साथ अन्वय होने के कारण। तीनों (१, ३-४ पादों के) वाक्य केवल पदसमूहात्मक हैं (उनमें कोई क्रिया स्पष्टतः नहीं दी है, सामान्य 'भवति' क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है), जबकि दूसरा वाक्य कारण (लक्ष्मी, कर्म) से अन्वित क्रिया 'तनोति' वाला वाक्य (स्वरूपतः) है; इसके कारण वाक्यों का प्रक्रम भी भंग (दोष) हुआ है। (सब वाक्यों की क्रिया तो एक-सी है, पर दूसरे वाक्य की क्रिया 'तनोति' उससे भिन्न है); (७) 'लक्ष्मी को बढ़ाता है' कथन में ('लक्ष्मी' से) सामान्य धर्म (शोभा) की अर्थ के रूप में प्रतीति होती है, अतः

कष्टार्थता दोष है; इन और इस तरह के अन्य दोषों को हटाने के लिए द्वितीय पाद की रचना यों की जा सकती है : शिशिर-किरण-माली सुन्दरो लक्ष्मणापि।

(**तृतीय पाद की व्याख्या**) प्रकृत (शकुन्तला) के लिंग का निर्देश ('इयम्' से) करने के कारण तथा उपमानों के बहाने से पुल्लिग (शैवल) और नपुंसक लिंग (लक्ष्म) के निर्देश के कारण 'स्वभाव से ही सुन्दर पदार्थ का इन तीनों के साथ, संबंध से रहित के साथ भी, नैकट्य शोभा को नष्ट करने वाला नहीं होता', यह तात्पर्य व्यक्त होता है। इयम्= सामने दिखाई देती हुई—क्योंकि कहा गया है 'इदम्' का अभिधेय प्रत्यक्षगोचर वस्तु होता है—'मेरी आँखों के लिए अमृतरस की निर्झ-रिणी, तीनों लोकों में विद्यमान कन्याओं में मूर्धन्य' इत्यादि अन्य अर्थ में संक्रमित वाच्यार्थ वाला (यह इयम् पद है)। '**तन्वी**' कहकर उपमेय का निर्देश किया गया है। इसके द्वारा उपमेय का निर्देश किये जाने के कारण इस वाक्य में विशेषण (तन्वी) के अधिक हो जाने की शंका उचित नहीं है; तीनों (सरसिज, हिमांशु और शकुन्तला) में रमणीयता समान है, पर यहाँ (तनुत्व युक्त शकुन्तला में) रमणीयता अधिक है, इसलिए यह (तन्वी पद) ही विधेय है; जिस प्रकार 'दही से हवन करता है' वाक्य में विधेय तो 'हवन करता है' है, पर वह (विधेयत्व) दही पर संचारित कर दिया जाता है (कि दही से ही हवन करता है, अन्य किसी द्रव्य से नहीं), वैसे ही यहाँ भी (विधेयत्व) आधिक्य में संचारित हो गया है। इससे प्रकृत शकुन्तला नायिका है, यह ध्वनित होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप आगे बतलाये जाने वाले भावोदय का अंकुरित होना व्यक्त होता है।

(**चतुर्थ पाद की व्याख्या**) **मधुराणाम्**=सुन्दर आकृतियों को कौन चीज़ अलंकृत नहीं करती ? अपितु सभी अलंकृत करती हैं। यह कथन पूर्वोक्त हीन (सिवार), अहीन (लक्ष्म) और वर्ण्य से सम्बद्ध (वल्कल) इस प्रकार सब-कुछ—सामान्य—अर्थ का समर्थन करता है, अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास (अलंकार) है। 'मधुर' शब्द का मुख्यार्थ (अमुक) रस (रसनेन्द्रिय-ग्राह्य) है; यहाँ मुख्यार्थ बाधित होता हुआ एक कार्य को करने के गुण के संबंध से सब विषयों की रंजकता और तृप्तिकारिता को लक्षित करता हुआ 'अपनी अत्यधिक अभिलाषा का विषय होना यहाँ आश्चर्यजनक नहीं है,' यह ध्वनित करता है।

अलंकारादि—यहाँ तीन पादों में साधारण धर्म को 'रम्य', 'लक्ष्मीं तनोति' तथा 'मनोज्ञा' पदों से कहा गया है, इसलिए माला-प्रति-वस्तूपमा अलंकार है। वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि है। अर्थान्तरन्यास अंगी है तथा प्रतिवस्तूपमा अंग है, अतः अर्थालंकारों का संकर है।··· मालिनी छन्द है।

इस श्लोक से नायिका का माधुर्य नामक अयत्नज अलंकार वर्णित हुआ है। उसका स्वरूप—सब विशिष्ट अवस्थाओं में रमणीय ही बने रहना माधुर्य है (साहित्यदर्पण ३।९६)। इस श्लोक से नाट्य का 'प्रसिद्धि' नामक भूषण प्रस्तुत किया गया है। उसका लक्षण है : लोक में विख्यात वाक्यों से अर्थ को प्रसिद्ध करना प्रसिद्धि।"

(साहित्यदर्पण ६।१८२)

उपर्युक्त व्याख्या में, आप देखें, राघवभट्ट ने काफ़ी बारीकी के साथ कालिदास के छन्द की भाषिक बुनावट को खोलने का प्रयास किया है। सबसे पहले उन्होंने 'अनुविद्ध' शब्द को लिया है। इसमें मुख्य पद है 'विद्ध' जिसका कोशगत अर्थ है 'वेधित'। प्रस्तुत प्रसंग में 'वेधित' से 'सम्बद्ध' अर्थ की सिद्धि प्रयोजनवती लक्षणा के द्वारा होती है : प्रयोजन है आधिक्य को व्यंजना। 'अनु' उपसर्ग, जो नैरंतर्य का वाचक है, इस प्रयोजन को और भी पुष्ट करता है। भाषिक दृष्टि से यह आक्षेप किया जा सकता है कि छन्द के प्रथम और तृतीय समानान्तर वाक्यों में (जहाँ तृतीय वाक्य उपमेय रूप है और प्रथम तथा द्वितीय उपमान रूप), केवल 'शैवलेन' के साथ 'अनुविद्ध' पद जोड़ने की क्या आवश्यकता थी, जबकि मुख्य वाक्य में प्रयुक्त उपमेय रूप 'वल्कलेन' के साथ इस प्रकार का कोई पूरक पद नहीं है—केवल तृतीया विभक्ति से काम चल गया है। राघवभट्ट ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि 'अनुविद्ध' पद का औचित्य केवल सरसिज और शैवल के प्रसंग में ही है : 'हिमांशु' और 'लक्ष्म' (कलंक) के प्रसंग में इसलिए नहीं कि कलंक तो चन्द्रमा के शरीर के भीतर विद्यमान है, और शकुन्तला तथा वल्कल के संदर्भ में इस-लिए नहीं कि वल्कल के साथ उसके शरीर का निरन्तर संबंध नहीं है—वल्कल तो उसने पहना हुआ है। यहाँ व्याख्याकार ने एक अन्य भाषिक चमत्कार का भी निर्देश किया है। उपमेय शकुन्तला का वाचक 'इयम्' सर्वनाम स्त्रीलिंग है, जबकि उपमानों में से एक 'शैवल' पुल्लिग और दूसरा 'लक्ष्म' नपुंसक लिंग है। इसका आशय यह है कि स्वभाव से

सुन्दर पदार्थ की शोभा, असम्बद्ध पदार्थों के साथ संबंध होने पर भी, घटती नहीं है वरन् बढ़ती ही है। इसके बाद द्वितीय पाद में 'मलिन' विशेषण के अनावश्यक प्रयोग के कारण 'अपुष्टार्थ' दोष का निर्देश किया गया है क्योंकि चन्द्रमा का लक्ष्म तो मलिन ही होता है। चतुर्थ पाद में 'मधुर' शब्द की सिद्धि लक्षणा के द्वारा हुई है। मधुरता रसना का विषय है किंतु यहाँ वह लक्षणा के चमत्कार से समस्त इन्द्रियों के लिए तृप्तिकर गुण से सम्पन्न होकर विशेष्य व्यक्तित्व के प्रति वक्ता की अत्यन्त अभिलाषा का व्यंजक बन गया है। यह भाषिक विश्लेषण रूपविज्ञान और अर्थविज्ञान की सहायता से किया गया है।

पद की सीमा से आगे बढ़कर वाक्य के स्तर पर भी राघवभट्ट ने छन्द का विश्लेषण किया है। उनके मत से प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद में वाक्य-रचना प्रायः समान है—ये तीनों वाक्य पदसमूहात्मक हैं, जिनमें क्रियापद नहीं है : पहले और चौथे में 'भवति' (होता है) और तीसरे में 'अस्ति' (है) क्रियापद का अध्याहार है, किंतु दूसरे पाद में कर्म-कारक सहित क्रिया 'तनोति' का प्रयोग है। अतः छन्द में वाक्य-प्रक्रम भंग हो जाता है। इसी प्रकार, 'हिमांशोः लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' वाक्य में 'हिमांशोः' का संबंध 'लक्ष्म' और 'लक्ष्मी' में से किसके साथ माना जाए ? 'लक्ष्म' के साथ मानने से 'लक्ष्मी' पद और 'लक्ष्मी' के साथ मानने पर 'लक्ष्म' पद साकांक्ष रह जाता है। इस विवेचन में स्पष्टतः वाक्य-विज्ञान का आधार ग्रहण किया गया है।—यह दूसरी बात है कि राघवभट्ट की आपत्ति गद्यभाषा के संदर्भ में जितनी संगत है, उतनी काव्यभाषा के संदर्भ में नहीं—क्योंकि काव्यभाषा में एक पद का दो पदों के साथ संबंध समासगुण की वृद्धि भी कर सकता है—जैसाकि इस छन्द में हुआ है। वास्तव में भाषाविद् यहीं तो चक जाता है। भाषाविद् टीकाकार की विफलता का इससे भी स्पष्ट उदाहरण एक और है, जहाँ वह वाक्यप्रक्रम की रक्षा के लिए **'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'** की इस्लाह करता हुआ उसके स्थान पर **'शिशिरकिरणमाली सुन्दरो लक्ष्मणापि'** का प्रस्ताव करता है। कहाँ मूल वाक्य की गरिमा और कहाँ उसके तथाकथित संशोधित रूप का बंध-शैथिल्य ? इसी तरह की इस्लाह से चिढ़कर तो उर्दू के कवि ने कहा था :

इश्क़ को दिल में दे जगह 'अकबर'
इल्म से शायरी नहीं आती !

वास्तव में, प्राचीन युग में भारतीय, व्यावहारिक समीक्षा मूलतः भाषिक समीक्षा ही थी—सिद्धान्त रूप में संविद्विश्रांति, पुरुषार्थ-चतुष्टय, आदि महत्तत्त्वों का संकीर्तन करने पर भी व्यवहार में ये टीका-कार या वृत्तिकार भाषिक तत्त्वों के विश्लेषण में ही प्रायः संलग्न रहे हैं। इस दृष्टि से संस्कृत की प्राचीन व्यावहारिक समीक्षा में आधुनिक शैलीविज्ञान की एक निश्चित पूर्व-परम्परा मिलती है। इस पूर्व-परंपरा में शैलीविज्ञान के गुण और दोष दोनों ही यथावत् उपलब्ध हैं : एक ओर जहाँ शब्दार्थ के सौन्दर्य-रहस्यों का अत्यन्त वैदग्ध्यपूर्वक उद्घाटन किया गया है, वहाँ दूसरी ओर बौद्धिक व्यायाम भी कम नहीं हुआ। इलियट को अपने समसामयिक भाषाविद् समीक्षकों से सिर्फ़ यही शिकायत है कि उनकी विवेचना में नीबू निचोड़ने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है—भारत के प्राचीन टीकाकारों ने तो नीबू के छिलके को भी निचोड़ डाला है—नीबू और छिलका फिर भी मोटी चीज़ें हैं, भारतीय पण्डित, न्याय-मीमांसा और व्याकरण ज्ञान के बल पर, 'बाल की खाल' निकालने में विश्वास करता रहा है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में, शब्दभेद से शैलीविज्ञान के प्रायः सभी तत्त्व उपलब्ध हैं। भारतीय शैलीविज्ञान के विकास-क्रम का पहला स्तर अलंकार और रीति सिद्धान्तों में मिलता है जो काव्य-तत्त्व को शब्दार्थ का धर्म मानते हुए अपनी खोज-यात्रा वहीं समाप्त कर देते हैं। दूसरा स्तर है वक्रोक्ति-सिद्धांत जो शब्दार्थ की समस्त संभावनाओं का विवेचन करने के बाद उस सौन्दर्य का संधान करता है जिसका मूल शब्दार्थ की सीमा के पार कवि के स्वभाव और प्रतिभा में निहित है। तीसरा स्तर है ध्वनि-सिद्धांत का। ध्वनि-सिद्धांत शब्दार्थ की सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त सम्पदा का आकलन उस तत्त्व की तलाश के लिए करता है जो 'रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र आदि अवयवों से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की रचनाओं में प्रति-भासित होता है।' यह तत्त्व है कवि का संप्रेष्य तथा सहृदय का संवेद्य अनुभव—कलात्मक अनुभूति या काव्यार्थ—जिसे पाश्चात्य समीक्षकों ने निहितार्थ या कलात्मक प्रयोजन कहा है। इस प्रकार, भारतीय शैलीविज्ञान काव्यगत भाषिक विवेचन के अर्धवृत्त पर ही न रुककर

सम्पूण वृत्त को समेटकर चलता है।—और, यही शैलीविज्ञान की सार्थकता है। जैसाकि एलोन्ज़ो ने कहा है काव्य के वृत्त में प्रवेश करने की दो विधियाँ हैं : एक परिधि से केन्द्र तक जाने की और दूसरी केन्द्र से परिधि तक आने की। केन्द्र है मूल संवेद्य=कलात्मक अनुभूति या प्रयोजन, और परिधि है वर्ण-समुदाय। वक्रोक्ति-सिद्धांत वर्ण-विन्यास से चलकर केन्द्रभूत अंतश्चमत्कार तक जाता है और ध्वनि-सिद्धांत केंद्रीय ध्वन्यर्थ से चलकर परिधिगत वर्णविन्यास तक आता है। भारतीय शैलीविज्ञान इन दोनों के बीच दृढ़ संबंध-सूत्र स्थापित करता हुआ काव्य के समग्र रूप का सही और सर्वांगपूर्ण आकलन प्रस्तुत करता है।[1]

1. However, Alonso insists that the aim of Stylistics is to establish a rigorous and concrete link between signifier and signified and so reach a full and accurate understanding of the total literary existence of the work.
[Graham Hough—Style and Stylistics, Page 79]

नामानुक्रमणिका

□